तमिल महाकवि
तिरुवल्लुवर



साहित्य शोध संस्थान

SAHITYA SHODH SANSTHAN
साहित्य शोध संस्थान,
8 ए/141, पश्चिमी विस्तार क्षेत्र,
करोलबाग, नई दिल्ली-110005
दूरभाष: 572-6216

8 A/141 W.E.A. KAROL BAGH
NEW DELHI 110005 PHONE 5726216

तमिल महाकवि तिरुवल्लुवर



डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ

ISBN 81-85073-01-5

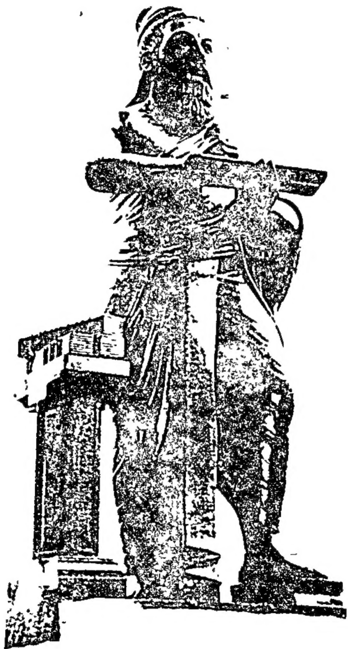
मूल्य :	रु. 50/-(पचास रुपया मात्र)
संस्करण :	द्वितीय, परिवर्द्धित, संशोधित 1991
प्रकाशक :	साहित्य शोध संस्थान 8ए/141, पश्चिमी विस्तार क्षेत्र, करौल बाग, नई दिल्ली - 110005
लेज़र कम्पोज़िंग :	श्रीनिवासा लेज़र्स्, पूसारोड करौलबाग, नई दिल्ली - 110005
मुद्रण :	शकुन प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली -32
आवरण :	नितिन सेठी, ऐसोसिएटिड आर्टिस्ट्स, नई दिल्ली
स्क्रीन :	सुकृति इनप्रिन्ट , नई दिल्ली
पुस्तबन्ध :	शाहदरा बुक बाईंडिंग हाउस, शाहदरा, दिल्ली - 32

Published by : SAHITYA SHODH SANSTHAN
8A/141, W.E.A. KAROL BAGH
NEW DELHI-110005 (Tel :572-6212)



PRICE :50/-(Rs Fifty only)

(TAMIL MAHAKAVI - TIRUVALLUVAR)
(A Study of Aram (Dharma), Porul (Artha), Inbam (Kama) of Tirukkural, Depiction of Society, Comparison with Mahabharata, Manu Smriti and Kautilya Arthsastra etc.)



तिरुवल्लुवर–प्रतिमा

लेखक की ओर से

भौगोलिक, ऐतिहासिक वैविध्य एवं बाह्य वैचित्र्य के रहते हुए भी जीवन के सूत्र का विचारबिन्दु हमारे देश की अखण्ड संस्कृति में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। मनीषियों के विचार साहित्य एवं परम्परा के द्वारा जन-जन के मानस में व्याप्त हो जाते हैं और साधक साहित्यकार उन विचारों का अभिव्यक्ति-पुंज बनकर स्थान-स्थान पर समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं। गंगा एवं कावेरी, नर्मदा एवं जेहलम आदि नदियों का निर्मल जल अनादिकाल से बहता हुआ देश के अनेक भागों को सिंचित करता रहा है, उसी प्रकार संस्कृति के स्रोत राष्ट्रीय जीवन को उल्लसित एवं उच्छ्वसित करते रहते हैं। युग बदलता है, स्थान बदलते हैं, वेश-भूषा और खान-पान भी बदलते रहते हैं, यहां तक कि विचार और भाव के उपयोग बदलते हैं परन्तु विचारों के स्रोत, चिंतन के केन्द्र अपनी निरन्तरता में ही हमको आकृष्ट करते हैं। जो दूर प्रतीत होता है वह पास जाने पर दूर नहीं रहता। यह अपनापन हमारी प्राचीन एवं नवीन भारतीय भाषाओं में भली-भांति देखा जा सकता है। तिरुवल्लुवर विषयक प्रस्तुत पुस्तक, जिसका आधार मेरे शोध- प्रबंध की आंशिक सामग्री है, इस कथन का प्रमाण है।

तिरुवल्लुवर हमारे राष्ट्रीय चिन्तन, धर्म, दर्शन, विचार, व्यवहार की सुदीर्घ परम्परा की एक महत्वपूर्ण इकाई हैं। तमिल प्रदेश में जन-जन के मानस पर इस 'ऋषि' के काव्य और चिंतन की छाप है। वे आदर्श के प्रतिपादक और व्यावहारिक ज्ञान के आधार हैं। इस प्रकार के मनीषी की विचारधारा को हिन्दी के माध्यम से जनमानस तक पहुंचाने का यह लघु प्रयास है। वल्लुवर में उपनिषदों जैसा सूक्ष्म चिंतन, बुद्ध के समान दृढ़ता, कौटिलीयअर्थशास्त्रम् एवं मनुस्मृति के समान विषयों की विविधता और अद्भुत प्रतिपादन क्षमता, कबीर की स्पष्टवादिता तथा बिहारी-सदृश शृंगार-चित्रण की सूक्ष्मता के दर्शन होते हैं। इनके काव्य ने परवर्ती तमिल-साहित्य की अनेकानेक कृतियों को प्रभावित किया है। शिलप्पदिकारम्, मणिमेखलै, कम्बरामायण से लेकर महाकवि सुब्रह्मण्य भारती पर इनका प्रभाव दृष्टिगत होता है।

इस काव्य की भावभूमि अत्यन्त विस्तृत है। जीवन की सम्भव उपलब्धियों और उसके विकास की सम्भावनाओं पर किया गया यह विवेचन मात्र कल्पनाश्रित नहीं है अपितु परम्परा के सम्यक् विश्लेषण, स्वानुभूति एवं युग-बोध को आधार बनाकर देशकाल की सीमाओं से ऊपर उठकर मानवमात्र के लिए 'आदर्श' का प्रतिपादन है।

वल्लुवर का साहित्य न तो 'भक्ति' का प्रतिपादन है और न ही 'रहस्यवादी साधक का रहस्यवादी सत्य' है; यह तो जीवन का विवेचन है, जिसमें 'मानव' के जीवन के समस्त रूपों का आदर्श-आधृत चित्र है।

समाज की विकृति और कुरूपता को संयत ढंग से चित्रित किया गया है। यहां उपनिषद् के समान श्रेय-प्रेय का विवेचन तो नहीं परन्तु एक विशिष्ट प्रकार की मूल्य-संहिता अवश्य है। इस कृति का लक्ष्य 'मानव' है एवं इसके प्रतिपादित आदर्श प्रत्येक भाषा, धर्म, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त एवं देश के 'मानव' के लिए हैं।

तमिल का प्राचीन संघम्-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसमें से तोलकाप्पियम् नामक व्याकरण एवं काव्य-शास्त्र, एट्टुतोगै (अष्ट पद्य-संग्रह) तथा पत्तुप्पाट्टु (दस दीर्घ कविताएं) का अध्ययन ' तमिल का प्राचीन साहित्य' के अंतर्गत किया जा चुका है। तिरुक्कुरल का परिचय भी इस कृति में दिया गया है। परन्तु तमिल-साहित्य के इस ग्रंथ के विशद् एवं विस्तृत विवेचन से युक्त एक पुस्तक की आवश्यकता को देखते हुए 'तमिल महाकवि-तिरुवल्लुवर' के प्रणयन की आवश्यकता प्रतीत हुई। अनेक विद्वानों और सुधी मित्रों से विचार-विमर्श करके इस दिशा में कार्य प्रारम्भ हुआ।

नवीन शिक्षा पद्धति में नीति-चिंतन और मानवीय मूल्यों के प्रतिपादन की बात कही गयी है। मानवीय मूल्यों के आधार-भूत ग्रंथों में से भारतीय साहित्य में 'तिरुवल्लुवर' का विशिष्ट स्थान है। सर्वज्ञात है कि यह कृति युगों के उपरान्त भी नवीन है, इसमें प्रतिपादित मानव-मूल्य एवं जीवन-आदर्श आज भी जीवन को प्रभावित करने की क्षमता से सम्पन्न हैं। इस कृति से विश्व के प्रत्येक प्राणी को अपने लिए मार्ग-दर्शन मिल सकता है, इस प्रकार की देश-कालातीत कृतियां बहुत अल्प होती हैं, अतः आशा की जा सकती है कि राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु इस पुस्तक का समुचित उपयोग होगा तथा शिक्षा-शास्त्री, शिक्षा की नीति निर्धारण करने वाले अधिकारी, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय स्तर के शिक्षा में रुचि रखने वाले, राजनीति के नायक इसकी उपादेयता पर ध्यान देकर इसे प्रचारित एवं प्रसारित करने का उपक्रम करेंगे।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में तिरुवल्लुवर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर काल-निर्धारण का संकेत देकर उनके अनुवादों का संक्षिप्त उल्लेख है। द्वितीय अध्याय में तिरुवल्लुवर की धर्म-विषयक मान्यताओं एवं दार्शनिक चिंतन का विश्लेषण है। धर्म के प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग का उल्लेख कर धर्म

के व्यक्तिपरक रूप का मन, वचन और कर्म के अंतर्गत वल्लुवर के विचारों का परिचय है । धर्म के समाजगत रूप में लोकाचार, अपरिग्रह, परस्त्री-वर्जन, परोपकार, दया, कृतज्ञता आदि विषयों पर कवि के विचारों का परिचय दिया गया है । इस संदर्भ में उल्लेख्य है कि तिरुक्कुरल में किसी धर्म-विशेष के सिद्धान्तों अथवा उसकी मान्यताओं के प्रति आग्रह नहीं, कवि ने आधारभूत, सर्वधर्म स्वीकृत, मानव-मूल्यों का प्रतिपादन किया है । मूल-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर शेष अर्थ पाठक अथवा सहृदय की चिंतन-विश्लेषण क्षमता पर छोड़ दिया गया है । तृतीय अध्याय में मानव के विकास की प्रक्रिया पर सम्यक् विचार किया गया है । वल्लुवर ने 70 अध्याय 'अर्थ' (पोरुल्) विषय पर रचे हैं । यहां 'अर्थ' अपने सर्वाधिक विस्तृत अर्थ में है । इनमें शिक्षा का महत्व, सज्जन की मैत्री, कुसंग का त्याग, सद्व्यवहार, कर्म की विधि, शक्ति, काल और स्थल का बोध इत्यादि अनेक विषयों का विवेचन है । सामाजिक जीवन के दुर्बलपक्ष के चित्रण के लिए मूढ़ता, अहंकार और नीचता इत्यादि का कवि-दृष्टि से परिचय दिया गया है । जो उस युग में राजा था वह आज नेता है, उसके लिए मार्ग-दर्शक आदर्श तथा व्यावहारिक पक्ष का चित्रण किया गया है । धन-सम्पदा के वितरण में असंतुलन होने से प्रयोजनहीन सम्पत्ति, दरिद्रता तथा याचना की स्थिति उत्पन्न होती है । इसके मूल में सामाजिक वैषम्य है। आदर्श का प्रतिपादन करने वाले कवि वल्लुवर सम्पत्ति का लक्ष्य लोककल्याण की भावना से उसका परोपकार के लिए उपयोग मानते हैं । प्रशासन तथा अधिकारी वर्ग-विषयक विवेचन को यहां संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में शृंगार-वर्णन विषयक तमिल साहित्य की विशिष्ट परम्परा का परिचय देकर तिरुवल्लुवर-काव्य में रागात्मक सम्बन्धों को संयोग-शृंगार एवं विप्रलम्भ-शृंगार के अंतर्गत विवेचित किया गया है । ये प्रसंग वल्लुवर के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । अध्याय पांच का विषय सामाजिक चित्रण है । वल्लुवर का युग-बोध, सामाजिक दोष यथा जुआ, वेश्यावृत्ति इत्यादि के अतिरिक्त कृषि के महत्व, संन्यासी, ढोंगी तपस्वी इत्यादि का उल्लेख है । तदुपरान्त 'तिरुक्कुरल एवं महाभारत'; 'तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति'; 'तिरुक्कुरल एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र' शीर्षकों से भारतीय चिंतनधारा की अन्तर्निहित एकात्मकता का परिचय देने का प्रयास है । हमारा लक्ष्य है - भारतीय चिंतन की विशालता, गहनता एवं निरन्तरता के मूल में विद्यमान भावात्मक एकता को उद्घाटित करना और इसके माध्यम से अध्ययन की सम्भावनाओं का संकेत देना । भावसाम्य का उद्घाटन इस लघु-अध्याय की सीमा है ।

सामाजिक परिवेश, आर्थिक संरचना एवं राजनीतिक परिस्थितियों के जिस दौर से हम भारतवासी गुज़र रहे हैं उसे संक्रान्ति काल कहा जाना चाहिए। सत्य, न्याय, अहिंसा, त्याग, मैत्री, निष्काम-कर्म इत्यादि शब्दों का मात्र अर्थ-परिवर्तन ही नहीं हो रहा, उनका अर्थ समाप्त ही हो रहा है। जाति, भाषा, धर्म, दर्शन, प्रान्त इत्यादि का उपयोग 'स्वार्थ' की सीमा में आबद्ध होता जा रहा है। परन्तु आशा की किरणें निरंतर पूर्व-दिशा से ही उदय होती हैं; 'सत्य' अन्याय और अत्याचार, असत्य और मिथ्या-चक्र से मुक्त होकर सदा उजागर होता है। इसी प्रकार आज भी राष्ट्र के अनेक चिंतक, साहित्यकार, राष्ट्रप्रेमी भारत के पुनर्निर्माण एवं वास्तविक 'विकास' के लिये अद्भुत निष्ठापूर्वक कर्मरत हैं। उन चिंतकों, विचारकों, कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारियों और सहृदय पाठकों से मेरा अनुरोध है कि ज्ञान के प्रकाश को पूर्ण शक्ति से सर्वव्याप्त होने दें। गांव से लेकर महानगर तक जो 'मानव' संघर्परत है उसे आत्मचिंतन, आत्मज्ञान का सुअवसर प्रदान करने में सहयोगी बनें और राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए कृतसंकल्प हों।

मैं सर्वप्रथम अपने गुरुद्वय डॉ. विजयेन्द्र स्नातक और डॉ. ओम्प्रकाश को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने की क्षमता प्रदान कर मुझे 'तमिल' के साथ सम्बद्ध किया और ज्ञान के विशाल सागर से मेरा परिचय करवाकर सशक्त नावरूपी मेरे 'आत्म विश्वास' को विकसित करने का निरंतर प्रयास किया। प्रभु से करबद्ध प्रार्थना है कि दोनों विद्वान् गुरुओं को साहित्य सेवा करने के लिए स्वस्थ दीर्घायु प्रदान करें। इस कृति के आधार, अपने शोध-ग्रंथ की रचना के समय, मुझे डॉ. के. अरुमुहम् एवं डॉ. मु. शंकरराजू नायुडू की विशेष सहायता मिली थी। मैं आज भी उनका सादर आभार मानता हूँ। संस्कृत, तमिल, अंग्रेजी और हिन्दी के उन सभी साहित्यकारों, अनुवादकों एवं मूल लेखकों का मैं आभार मानता हूँ जिनके ग्रंथों का मैंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उपयोग किया है।

तमिलनाडु के प्रसिद्ध उद्योगपति, शिक्षाविद्, विद्वान् समाजसेवी डॉ. एन. महालिंगम् ने भारतीय संस्कृति, विशेषतः तमिल साहित्य और संस्कृति को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित-प्रसारित करने के लिए अनेक रूपों में तन-मन-धन से अनेक प्रयास किये हैं। मुझे गर्व है कि ऐसे महान् व्यक्तित्व के साथ मेरा आत्मीय सम्बन्ध हुआ। उनके द्वारा दिए गए विशेष सहयोग से तमिल और हिन्दी साहित्य को निकट लाने के मेरे प्रयासों को नवशक्ति और नवप्रेरणा मिली है। मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने

अपने स्नेहमय परामर्श और अनेक रूपों में दी गई सहायता द्वारा मेरे साहित्यिक प्रयासों को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान किया है।

उत्तर प्रदेश शासन ने भारतीय भाषाओं, विशेषतः दक्षिण भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार के लिए कुछ योजनाओं को साकार रूप दिया है। इस दिशा में किए गए दूरगामी एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों को सम्यक् दिशा प्रदान करने में उच्च-शिक्षा एवं भाषा सचिव श्रीयुत नवीन चन्द्र बाजपेई का योगदान उल्लेख्य है। इसी भांति तमिल साहित्य विषयक ग्रंथों को विभिन्न शिक्षा संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए उपलब्ध करवाने में भी श्री नवीन चन्द्र बाजपेई ने सराहनीय भूमिका निभाई है। राष्ट्रीय भावात्मक एकता के लिए किए जा रहे श्री बाजपेई के निष्ठपूर्ण प्रयासों के लिए उन्हें साधुवाद!

प्रथम संस्करण की यत्किंचित् भूलों को सुधारने के लिए तमिलनाडु के हिन्दी विद्वान् डॉ. नेञ्जुण्डन ने कतिपय सुझाव दिए और मार्गदर्शन किया। उनके द्वारा निर्दिष्ट भूलों को इस परिवर्द्धित संशोधित संस्करण में सुधार दिया गया है। मैं डॉ. नेञ्जुण्डन का सादर आभार मानता हूँ।

मराठी-हिन्दी के वरिष्ठ एवं प्रतिष्ठित लेखक डॉ. प्रभाकर माचवे ने 'हिन्दू' दैनिक में मेरी एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिखा था -The author is a Punjabi Scholar of Hindi who has studied Tamil language and literature in depth .... It is very creditable for a North Indian, because there are very few Hindi professors and writers who know Tamil ... एक अन्य संदर्भ में डॉ. प्रभाकर माचवे ने 'हिन्दू' दैनिक में लिखा था -"It is highly commendable that a person who belongs to Punjab, and whose mother tongue is Hindi has mastered Tamil so well and has made his life-mission to delve deep into the literature of Tamil-nadu. Such persons are real torch-bearers of national and linguistic integration. मेरे कार्य की इस प्रकार की सराहना करनेवाले, अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न, महान् साहित्यकार कवि-चिंतक डॉ. प्रभाकर माचवे आज हमारे मध्य नहीं हैं परन्तु उनका आस्थामूलक लेखन और चिंतन हमारा मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

साहित्यिक कार्य एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, इसको खण्ड-खण्ड करके नहीं देखा जा सकता। परन्तु अनेक प्रश्न उभरते हैं ? तमिल साहित्य विषयक कार्य को 26-27 वर्षों से करने के बाद भी तमिलनाडु सरकार इस विषय में उदासीन क्यों है ? मेरे वरिष्ठ पत्रकार मित्र 'आथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया' के महासचिव एवं कादम्बिनी के सम्पादक श्री राजेन्द्र अवस्थी का तो मत है कि तमिलनाडु सरकार हिन्दी माध्यम से किए जा रहे तमिल-साहित्य और संस्कृति के प्रचार को अनदेखा करके प्रकारान्तर से तमिल के विशाल साहित्य के प्रचार-प्रसार के मार्ग को कंटकाकीर्ण कर रही है। 'तुम यह तमिल का जो कार्य कर रहे हो, मूलतः वह तमिलनाडु की सरकार का कार्य है, उसे इसके लिए भरपूर सहयोग देना चाहिए।' यह विचार श्री राजेन्द्र अवस्थी के हैं। परन्तु सम्भवतः इसके लिए अभी और धैर्य और साधना की आवश्यकता है !

अपने अनेकानेक मित्रों, सहायक बंधुओं तथा परिवार के स्वजनों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ जिनका सहयोग विभिन्न रूपों में इस कार्य को करने में सहायक हुआ है। डॉ. (श्रीमती) रमेश सेठ धर्मपत्नी ही नहीं हैं अपितु एक मित्र-आलोचक एवं मार्ग-दर्शक का भी कार्य सम्पन्न करती हैं। पुत्री स्मिता एवं श्वेता की स्नेहवर्षा से कठिन कार्य भी सहज प्रतीत होते हैं। डॉ. देवकन्या उन मित्रों में से हैं जो सुख-दुःख में पूर्ण शक्ति एवं क्षमता के अनुसार सहयोग देकर मार्ग प्रशस्त करते हैं। 'आथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया' के दिल्ली अंश के संयोजक के रूप में कार्य करने के साथ साहित्यिक मित्रों की सूची पर्याप्त विस्तृत हुई है। सभी नामों का उल्लेख यहां सम्भव नहीं। उन सब साहित्यिक बन्धुओं का मैं ऋणी हूँ जो मुझे निरंतर प्रोत्साहित करते रहे हैं।

पुस्तक को लेज़र-कम्पोज़िंग द्वारा तैयार करने के लिए श्री आयंगर संचालित 'श्री निवासा लेज़र प्रो' ने तत्परता से कार्य किया है। मैं श्री आर. आयंगर, श्री तविश बहल तथा उनके अन्य सहयोगियों का धन्यवाद करता हूँ। कला-दृष्टि से पुस्तक की सम्पूर्ण व्यवस्था श्री नरेन्द्रनाथ सेठी के सुयोग्य पुत्र श्री नितिन सेठी ने की है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मुद्रण की व्यवस्था शकुन प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा ने की है। शाहदरा बुक बाइंडिंग हाउस के श्री चन्द्रमोहन और श्री अनमोल ने पुस्तक के प्रकाशन से लेकर पुस्तकबन्ध तक का दायित्व लेकर मेरा कार्य अत्यन्त सरल कर दिया। मैं इन सबका हृदय से आभार प्रगट करता हूँ। 'साहित्य शोध संस्थान' ने इस पुस्तक को प्रकाशित करके साहित्य के संधान के मार्ग को प्रशस्त किया है। मैं इसके लिए संस्थान का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

अपनी एक पुस्तक सुब्रह्मण्य भारती की भूमिका में मैंने लिखा था 'ब्रह्मैवेदंसर्वम्' - सब कुछ परमात्मा ही है, जब कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं - 'निमित्तमात्रंभव सव्यसाचिन', अर्जुन तू निमित्त मात्र हो जा तो शनैः-शनैः 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'- तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, (फल में नहीं) का अर्थ हृदय की गहराईयों में अनुभवगम्य हो जाता है । आज भी मेरी जीवन-दृष्टि इस कथन से पूर्णतया प्रेरित है। महाकवि तिरुवल्लुवर के साहित्य और चिंतन का यह परिचय राष्ट्रीय भावात्मक एकता के निरंतर चलने वाले महान् अनुष्ठान में अपना यत्किंचित् योगदान देने में सफल होगा ऐसा मेरा विश्वास है ।

(डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ)

अनुक्रम

तिरुवल्लुवर : भारतीय साहित्य का गौरव

तिरुक्कुरल एक मुक्तक काव्य है । इसका प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् मोती के सदृश विशिष्ट व्यक्तित्व से युक्त है । प्रत्येक पद स्वतंत्र रूप से पूर्ण अर्थ का द्योतक है । ऐसा होते हुए भी इसकी रचना में आद्योपान्त एक सम्बन्ध-सूत्र एवं धारावाहिकता भी है, जो यह सिद्ध करती है कि यह एक संग्रह-ग्रंथ नहीं, अपितु एक पूर्ण क्रमबद्ध रचना है । . . . यह मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक प्रशस्त सोपान है जिसके तीन खण्ड हैं - धर्म, अर्थ एवं काम । इसका एक-एक पद उस प्रशस्त सोपान का पद है । (डॉ. शंकरराजू नायुडू कृत 'तिरुक्कुरल' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका से ।)

அகர முதல எழுத்தெல்லாம் ஆதி
பகவன் முதற்றே உலகு.

अहर मुदल एलुत्तेल्लाम् आदि
भगवन् मुदट्रे उलहु । (कुरल, 1)
सभी वर्णमालाओं का आदि अक्षर 'अ' है;
सृष्टि का स्रोत आदि-भगवन् हैं ।

சிறைகாக்குங் காப்புஎவன் செய்யும் மகளிர்
நிறைகாக்குங் காப்பே தலை.

शिरै काक्कुङ् काप्पु एवन् शेय्युम् महळिर्
निरै काक्कुङ् काप्पे तलै । (कुरल, 57)
स्त्री के चरित्र की रक्षा बाह्य बन्धनों से नहीं
उसके अपने इन्द्रिय-निग्रह से ही सम्भव है ।

जीवन परिचय : जन श्रुतियों से आच्छादित; रचना-काल ; भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद आदि, वर्ण्य-विषय ; धर्म (अरम्), अर्थ (पोरुल्), काम (इनबम्)।

1

तिरुवल्लुवर : भारतीय-साहित्य का गौरव

तमिल साहित्य एवं संस्कृति की विशाल परम्परा में महाकवि तिरुवल्लुवर और उनके ग्रंथ तिरुक्कुरल का अद्वितीय स्थान है। उनके इस ग्रंथ के काव्य-सौन्दर्य एवं उसमें निहित सन्देश ने अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों को अभिभूत किया है। देश-काल की प्रबल सीमाओं से अनाबद्ध, मानव-मात्र के लिए 'आदर्श' जीवन मूल्यों का निर्देश करने वाले, प्रबल विचारक एवं श्रेष्ठ कवि के रूप में तिरुवल्लुवर की महत्ता भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने मुक्तकंठ से स्वीकार की है। 'तिरुक्कुरल तमिल साहित्य का गौरव है और भारतीय साहित्य का भव्य भूषण है' - डॉ. सु. शंकरराजू नायुडू का यह कथन सत्य पर आधृत है। प्रो. एस. वैयापुरी पिल्लै मानते हैं कि 'तमिल प्रदेश में इससे पूर्व अथवा इसके उपरान्त इतने विद्वत्तापूर्ण कथन अन्य किसी ने प्रस्तुत नहीं किए।' श्री चार्ल्स ई. गोवर के मतानुसार तमिल साहित्य एवं जीवन में इस ग्रंथ का लगभग वही प्रभाव है जो इटली में दान्ते के महान् विचारों का है। श्री एम. एरियल ने तिरुक्कुरल को तमिल साहित्य का विशिष्ट ग्रंथ मानते हुए इसे मानव-विचारों की उच्चतम और पवित्रतम अभिव्यक्ति माना है।

डॉ. जी. यू. पोप ने तिरुक्कुरल का अनुवाद 1884 ई. में प्रकाशित किया। वे वल्लुवर को विश्व की महान् प्रतिभाओं में से एक मानते हैं। श्री फ्रेडरिक पिनकॉट ने माना है कि 'भारत में दो ग्रंथों ने जनता के हृदय और मस्तिष्क पर पूर्ण नियंत्रण किया है। ये दो ग्रंथ तुलसीकृत 'रामायण' और तिरुवल्लुवर कृत 'कुरल' हैं .... इनमें से कुरल अधिक प्राचीन है।' डॉ. ना. महालिंगम् तिरुक्कुरल के विचार-गाम्भीर्य, भावों की शालीनता तथा अन्तर्निहित नैतिकता को मानव-समाज के लिए अनुकरणीय मानते हैं। श्री शुद्धानन्द भारती इसे मानव-समाज के कल्याण के लिए एक आदर्श कृति मानते हैं। तमिल के राष्ट्रीय महाकवि सुब्रह्मण्य भारती ने एक कविता में वल्लुवर को विश्व

की महान् विभूति मानते हुए कहा कि तमिल भाषा ने 'वल्लुवर को देकर जगत् में अमर कीर्ति प्राप्त की और तमिलनाडु को यशस्वी किया।' इस कृति के अद्‌भुत सौन्दर्य और गहन विचारों के कारण इसे 'तमिल मरै' अथवा 'तमिलवेद' भी कहा जाता है।

इस प्रकार के महान् कवि जाति, समाज और राष्ट्र की सीमाओं को लांघ कर मानव मात्र के हो जाते हैं। युग-परिवर्तन उनके कथनों को प्रभावित कर पाने में असमर्थ होता है; प्रबल काल यहां अभिभूत होकर नतमस्तक हो जाता है। तिरुवल्लुवर के महान् ग्रंथ 'तिरुक्कुरल' से तमिल प्रदेश ही नहीं मानव-मात्र का कल्याण सम्भव है, अतः इस प्रकार के ग्रंथ का परिचय युग की अनिवार्य आवश्यकता है।

तिरुवल्लुवर में 'तिरु' आदरसूचक उपसर्ग है, मूल नाम 'वल्लुवर' ही है। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है, हाँ वल्लुवन' एक सामान्य स्तर की जाति के नाम के रूप में प्रचलित शब्द है। डॉ. सु. शंकरराजू नायडू ने कवि एवं उसके द्वारा रचित ग्रंथ के प्रसिद्ध नामों का उल्लेख किया है -

ग्रंथ के नाम	लेखक के नाम
तिरुक्कुरल	तिरुवल्लुवर
मुप्पानूल्	नायनार
उत्तर-वेदम्	देवर
देय्वनूल्	मुदर्पावलर
तिरुवल्लुवर	देय्वप्पुलवर
पोय्यामोळि	नान्मुहनार
वायुरै वाळत्तु	मातानुबंगी
तमिळ् मरै	चेन्नाप्पोदार
पोदु मरै	पेरुनावलर।

जीवन-परिचय : जन-श्रुतियों से आच्छादित

तिरुवल्लुवर के विषय में अनेक जन-श्रुतियां तमिल-प्रदेश में प्रचलित हैं। श्री पोपले ने कुछ दन्त-कथाओं का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार वल्लुवर मयिलापुर के एक जुलाहे थे। इस कथन में सम्भव तथ्य इतना ही है कि कवि को प्रायः मयिलापुर के जुलाहे के नाम से स्मरण किया जाता है। लगभग सभी लेखकों ने इस बात की ओर

संकेत किया है कि तिरुवल्लुवर समाज में निम्न कही जाने वाली जाति के व्यक्ति थे। 'वल्लुवन' नाम की जाति के अवशेष चिह्न अभी भी विद्यमान हैं। यह सम्भव है कि वह 'वल्लुवकुडि' नामक इस जाति के सदस्य रहे हों। इस जाति का कार्य राजाज्ञा की ढोल इत्यादि द्वारा घोषणा करना था।

परम्परा से यह भी विश्वास किया जाता रहा है कि तिरुवल्लुवर एक ब्राह्मण पुरुष (भगवन्) एवं एक निम्नजाति की स्त्री (आदि) की सन्तान थे। इस सम्बन्ध में सात सन्तानों का उल्लेख है जिनमें कपिलर और अव्वैयार उल्लेख्य हैं। इस कथन में सत्य का अंशमात्र भी नहीं है और न ही इसे स्वीकार करने का कोई आधार ही उपलब्ध है। सम्भवतः कवि की प्रसिद्धि हो जाने के उपरान्त उसे उच्चकुल से सम्बद्ध करने के लिए इस प्रकार की कथा का निर्माण कर लिया गया। प्रो. रंगाचार्य ने यह मत प्रस्तुत किया है कि तमिल 'वल्लुवर' संस्कृत साहित्य में 'राजनय' के समान है, एवं अपने ग्रंथ में जिस व्यावहारिक एवं राजनीति के ज्ञान का परिचय कवि ने दिया है उससे इसकी पुष्टि होती है कि वल्लुवर 'राज्य' के बड़े अधिकारी रहे हों। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र की रचना 'नरेन्द्र' अथवा चन्द्रगुप्त के लिए की थी। इसी प्रकार सम्भवतः वल्लुवर ने यह रचना अपने मित्र 'एलाल' अथवा उसके पुत्र के लिए की हो। इसी तर्क का विकास कर यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार कौटिल्य को राज्य का रक्षक नियुक्त किया गया, उसी प्रकार का दायित्व वल्लुवर को भी राज्य का उच्च पदाधिकारी बना कर प्रदान किया गया हो। इसमें प्रश्न सम्भावनाओं का नहीं, प्रमाणों के अभाव का है। समग्रतः विश्लेषण करने पर इस प्रकार की धारणाओं का कोई आधार उपलब्ध नहीं है। इसी आधार पर श्री एस. सोमसुन्दर भारती के एक लेख में इसी प्रकार की धारणा को मात्र अनुमान मानना होगा। जनश्रुतियों का आधार चाहे ऐतिहासिक न हो, तो भी उनका विकास एक विशेष अर्थ-युक्त होता है। चारों ओर से असत्य में लिपटी जनश्रुति में भी कहीं सत्य का कुछ अंश हो सकता है, वह कितना ही न्यून अथवा सूक्ष्म क्यों न हो। इसलिए वल्लुवर से सम्बद्ध जन-श्रुतियों में सम्भवतः कुछ सार हो। डॉ. ओमप्रकाश ने भी तिरुवल्लुवर को वल्लुवा जाति में उत्पन्न माना है। उनका तर्क यह है कि सम्भवतः प्रारम्भ में इनके समकालीन लोग इनको जाति-नाम से पुकारते रहे होंगे, समय बीतने पर उसी नाम का आदर हुआ और उसके साथ आदरसूचक 'तिरु' उपसर्ग जोड़ दिया गया। श्री रौबिन्सन ने एक जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार एक नवजात शिशु मयिलापुर में शिव मंदिर के निकट पड़ा था। वेळाळर वंश की एक स्त्री बालक को घर ले आई। गांव के लोगों द्वारा बालक के जन्म वंश इत्यादि के विषय में की गई

आलोचना से तंग आकर दम्पति ने बालक को एक 'परिया' परिवार को सौंप दिया । पांच वर्ष की आयु होने पर बालक ने यह जानकर कि वह माता-पिता की आलोचना का कारण है, घर से निकल कर गांव के बाहर ताड़-वृक्ष के नीचे आसन जमाया । गांव के लोग यह देख आश्चर्य-चकित हुए कि वृक्ष की छाया निरन्तर उसके चरणों पर बनी रहती है । इस चमत्कार को देख लोगों को ज्ञान हुआ कि यह बालक या तो कोई महान् ऋषि है अथवा कोई देवता । तदुपरान्त बालक उस स्थान को छोड़कर पर्वत की दिशा में चला गया ।

तिरुवल्लुवर के गृहस्थ-जीवन विषयक दन्त-कथाओं के अनुसार इनकी पत्नी का नाम वासुकी था । वासुकी की मृत्यु पति के जीवन-काल में ही हो गई थी । तमिल-प्रदेश में वह अपने पतिव्रत-धर्म और कर्तव्य-निष्ठा के लिए विख्यात है । अपने काव्य में वर्णित गृहस्थ जीवन के आदर्श को कवि ने अपने जीवन में साकार कर दिया था । 'ईश न पूजे नित, नित उठ पूजे पति को, बरसो कह दे तो बरसे वर्षा' का आदर्श वासुकी थी ।

रचना-काल

तिरुवल्लुवर के रचना-काल के विषय में कोई निर्णय कर पाना अत्यन्त दुष्कर है । ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव तो है ही, अंतःसाक्ष्य भी इस दिशा में विशेष सहायक नहीं हैं । इस विषय में निम्नलिखित मत उपलब्ध हैं -

. तिरुवल्लुवर का जन्म एवं रचना-काल 8वीं से 10वीं शताब्दी मानने वालों में रेवरेण्ड जी. यू. पोप का नाम उल्लेखनीय है । इसका आधार तिरुवल्लुवर पर ईसाई-धर्म का प्रभाव मानने का पूर्वाग्रह है । इस मत को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया और इसका प्रबल खण्डन भी हुआ है ।

ग्रंथ का रचना-काल पांचवीं और छठी शताब्दी मानने वाले विद्वानों में श्री नीलकण्ठ शास्त्री, श्री वैयापुरी पिल्लै तथा श्री जेसुदासन उल्लेख्य हैं । तिरुकुरल पर संस्कृत-ग्रंथों का प्रभाव मान कर उनके रचनाकाल के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है । इसके अतिरिक्त संस्कृत शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से ये विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं । परन्तु संस्कृत आर्ष-ग्रंथों का रचना-काल भी अन्तिम रूप से निर्णीत नहीं है । अतः मतभेद का अवसर शेष रह जाता है ।

तिरुवल्लुवर का रचना-काल ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी अथवा इससे पूर्व मानने वालों में श्री के. एन. शिवराज पिल्लै, श्री टी. एस. कन्दसामी मुदलियार, श्री वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितार, श्री पूर्ण सोमासुन्दरम्, श्री मु. गो. वेन्कटकृष्णन्, डॉ. ओमप्रकाश, श्री टी. पी. मीनाक्षीसुन्दरम्, श्री अवधनंदन, श्री जी. एस. दुरैस्वामी इत्यादि अनेक विद्वान् हैं।

श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने तिरुवल्लुवर को ईसा पूर्व एक या दो शताब्दी का मानने के लिए लगभग वही तर्क दिए हैं जो श्री वैयापुरी पिल्लै ने उन्हें पांचवीं या छठी शताब्दी का मानने के लिये दिये हैं। तिरुक्कुरल में वर्णित विषयों पर संस्कृत धर्म-शास्त्रों और कौटिलीय-अर्थशास्त्र का प्रभाव मानकर, और इन ग्रंथों को ईसा पूर्व की कृतियां मानकर उन्होंने तिरुक्कुरल का रचनाकाल लगभग ईसा पूर्व एक शती माना है। उनके मतानुसार पंचतंत्र, हितोपदेश, कामन्दकीय नीतिसार, भर्तृहरि इत्यादि से साम्य का कारण यह है कि इन ग्रंथों में प्रचलित नीति को समाविष्ट कर लिया गया था, अतः यह वल्लुवर के स्रोत ग्रंथ नहीं थे अपितु कोई समान ग्रंथ इन सबका स्रोत ग्रंथ रहा होगा।

इस विषय में कुछ अन्य साक्ष्यों पर विचार करना उपयुक्त होगा। मणिमेखला नामक तमिल महाकाव्य में तिरुवल्लुवर को उद्धृत कर उन्हें 'सच्चा कवि' (पोयिलपुलवन्) कहा गया है। इसी प्रकार शिलप्पदिकारम् महाकाव्य में भी 'कुरल' को धर्म के प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है। इन ग्रंथों में कुरल को उद्धृत किया जाना इस बात का प्रमाण है कि कुरल की रचना इनसे एक अथवा दो शती पूर्व हो चुकी थी और एक महान् धर्म-ग्रंथ के रूप में उसे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। यदि मणिमेखला और शिलप्पदिकारम् का रचना-काल अन्तिम रूप से निर्णीत हो जाये तो 'कुरल' का रचनाकाल लगभग स्पष्ट हो जाये, पर इस विषय पर भी अनेक मत अभिव्यक्त किये गये हैं और इनका रचनाकाल चौथी से आठवीं शताब्दी तक माना गया है।

कुरल के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री का अध्ययन इस बात की ओर निश्चित संकेत करता है कि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों यथा मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, कामसूत्र इत्यादि की परम्परा से वल्लुवर परिचित थे। इसके आधार पर यदि निष्कर्ष निकालें तो वल्लुवर का रचनाकाल प्रथम अथवा दूसरी शताब्दी के लगभग अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि मनुस्मृति 200 ई. पू. और 100 ई. पू. के बीच की रचना, और कौटिलीय अर्थशास्त्र 300 ई. पू. और 200 ई. उ. की रचना (अपेक्षाकृत पहली सीमा के पास) मानी गई है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के सदृश

सूत्र-सैली, वेण्पा छन्द का प्रयोग एवं साहित्यिक सामग्री इस ग्रंथ की प्राचीनता की ओर इंगित करते हैं।

इस स्थल पर तिरुकुरल ग्रंथ की प्रशस्ति रूप में उपलब्ध एक कृति 'तिरुवल्लुवमालै' का उल्लेख प्रासंगिक है। इस कृति में कपिलर, नक्कीरर, अव्वै, कूल वानिकन चात्तनार, परणर, पेरुन्देवनार इत्यादि अनेक महान कवियों के द्वारा तिरुकुरल की प्रशस्ति में कहे गये तथाकथित पद्य संकलित हैं। इस कृति को अधिकांश विद्वानों ने अप्रामाणिक और बाद की रचना माना है। इसमें संकलित 49 कवियों का एक ही समय में उपस्थित होना ऐतिहासिक दृष्टि से असम्भव है। इसके अतिरिक्त एक सुनियोजित, क्रमबद्ध, तर्कपूर्ण ढंग से व्यवस्थित होने के कारण इस कृति की अप्रामाणिकता और भी निश्चित हो जाती है। श्री एस. एस. भारती का कथन है कि कुरल की महत्ववृद्धि का लक्ष्य समक्ष रख कर रची गई यह बाद की जाली रचना है। श्री के. एन. शिवराज पिल्लै का विचार है कि सम्भवतः वल्लुवर की असीम प्रशंसा-भावना से प्रेरित होकर किसी ने सम्पूर्ण संघम्-साहित्य के सभी महान् कवियों के मुख से इन छन्दों को कहलवा कर कुरल को प्रमाण-पत्र प्रदान करने का प्रयास किया है। काल-क्रम की दृष्टि से विवेचन, संकलित कवियों के रचनाकाल का अध्ययन, संकलित सामग्री - सभी से इसकी अप्रामाणिकता की पुष्टि होती है। परन्तु वल्लुवर की असीम प्रशंसा से युक्त होने के कारण इसका उल्लेख वल्लुवर सम्बन्धी अध्ययन में आना स्वाभाविक ही है।

भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद आदि

'तिरुकुरल' के भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनेकानेक अनुवाद हुए हैं। हिन्दी में एक अनुवाद 1924 ई. में श्री क्षेमानन्द राहत ने किया। 1958 ई. में डॉ. सु. शंकरराजू नायुडू कृत एक श्रेष्ठ कोटि का अनुवाद मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त श्रीमती राजम् पिल्लै का एक अनुवाद 1975 ई. में प्रकाशित हुआ। डॉ. ना. महालिंगम् के सद्प्रयास से श्री मु. ग. वेन्कटकृष्णन् कृत एक अनुवाद 1988 ई. में प्रकाशित हुआ। हिन्दी क्षेत्र में तमिल की इस श्रेष्ठ कृति के प्रचार और प्रसार के लिए सुप्रसिद्ध विद्वान्, शिक्षाविद् एवं उद्योगपति डॉ. एन. महालिंगम् द्वारा किया गया यह प्रयास राष्ट्रीय भावात्मक एकता की दिशा में ठोस कदम है।

हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, तेलुगु, मलयालम, बंगला, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, डच, सिंहल, इत्यादि अनेक भाषाओं में तिरुकुरल के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से डॉ. जी. यू. पोप, श्री वी.वी. एस. अय्यर, श्रीरामचन्द्र दीक्षितार, श्री

चक्रवर्ती नायनार तथा श्री के. एम. सुब्रह्मण्यम् के अनुवाद उल्लेख्य हैं। श्री सी. जे. वेस्की के 1730 ई. में प्रकाशित लैटिन अनुवाद की भी विद्वानों ने सराहना की है। आज भी तिरुक्कुरल के नवीन अनुवाद अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में किए जा रहे हैं। तमिल में तिरुक्कुरल के विभिन्न पक्षों पर अनेक शोध-कार्य हो चुके हैं। हिन्दी में इस क्षेत्र का प्रथम और सम्भवतः एक-मात्र शोध-कार्य दिल्ली विश्वविद्यालय से 1971 ई. में हुआ। इसका प्रकाशन 'तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक से 1972 में हुआ। डॉ. ओमप्रकाश की प्रेरणा से यह शोध डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ ने किया।

वर्ण्य विषय

तिरुक्कुरल मुक्तक काव्य है, इसका प्रत्येक पद स्वतंत्र रूप से पूर्ण अर्थ का द्योतक है पर विषय की दृष्टि से ग्रंथ में निरन्तर एक क्रमबद्धता एवं धारावाहिकता है। कुरल का अर्थ है 'लघु'। 'कुरल वेण्पा' नामक लघु छन्द में दो चरण होते हैं जिसके प्रथम चरण में 'चार' तथा द्वितीय चरण में केवल 'तीन' पद होते हैं। इसकी रचना पर्याप्त जटिल है और प्रत्येक पद पूर्वपद से और प्रत्येक अध्याय पूर्व-अध्याय से अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सम्पृक्त है। ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है - धर्म (अरम्), अर्थ (पोरुल्), काम (इवनम्)।

धर्म-खण्ड (अरतुप्पाल्) में प्रस्तावना के अन्तर्गत सर्वेश वन्दना, वर्षा-वैशिष्ट्य, संन्यासी का महत्व एवं धर्म की शक्ति का वर्णन करने के उपरान्त बीस अध्यायों में गृहस्थ के धर्म (इल्लर वियल्) का प्रतिपादन है। इसके अन्तर्गत गृहस्थ, पत्नी के गुण, संतति, स्नेह-सम्पन्नता, ईर्ष्या न करना, लोभ न करना, चुगली न करना, व्यर्थ प्रलाप न करना, शिष्टाचार, दान, यश, इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है। धर्म-खण्ड के दूसरे अंश में संन्यास-धर्म (तुरवरवियल्) के अन्तर्गत दयालुता, मांसाहार-निषेध, तपस्या, दुराचरण, चोरी न करना, सत्यभाषण, अक्रोध, अहित न करना, अहिंसा, स्थिरता, तत्वज्ञान, तृष्णादमन इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन है। ये सभी धर्म यद्यपि संन्यास-धर्म (तुरवरवियल्) के अन्तर्गत आये हैं पर मानव-मात्र के लिए उपयोगी होने के कारण इन्हें धर्म का अंग माना गया है। गृहस्थ और संन्यास का वर्गीकरण किसी सूक्ष्म सिद्धान्त पर आश्रित न होकर सतही है। इसी खण्ड में एक अध्याय भाग्य (उऴ) पर है जिसमें कर्म-फल एवं भाग्य का विवेचन है।

पुस्तक के द्वितीय भाग अर्थ (पोरुल्) के अन्तर्गत शासन-विधान, नरेश के गुण-कर्म, शिक्षा, अशिक्षा, श्रवण, बुद्धिमत्ता; शक्ति, समय, स्थल का बोध, विचारपूर्ण चुनाव, सुशासन, गुप्तचर, सामन्त, दुर्ग, खाद्य, सैन्य, मैत्री, वंश इत्यादि से सम्बद्ध अनेकानेक कर्त्तव्यों एवम् सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। सामाजिक कुरीतियों यथा वेश्या, मद्य, जुआ का उल्लेख भी इसी भाग में हुआ है। इसमें शासन विधान (अरचियल्), सामन्त (अमैचियल्), दुर्ग (अरिणियल्), खाद्य (कूलियन), सैन्य (पटैयियल्), मैत्री (नट्पियल्), वंश (कुटियियल्) इत्यादि सात खण्ड किये गये हैं परन्तु यहां भी यह वर्गीकरण ऊपरी ही है। उदाहरण के लिए मैत्री के अन्तर्गत स्त्री का अनुसरण न करना, वेश्या, औषधि इत्यादि का समावेश हो जाता है। वंश के अंतर्गत दरिद्रता, याचना, नीचता का समाविष्ट हो जाना इस बात का संकेत है कि यह उपविभाजन सम्भवतः बाद में किया गया।

ग्रंथ के तृतीय भाग काम (इनबम्) को गुप्त-प्रेम (कलवु) और पति-प्रेम (करपु) दो भागों में विभक्त किया गया है। संकेत-परिचय, मिलनसुख, प्रेम की महिमा, लज्जा का त्याग, प्रवाद का परिज्ञान इत्यादि गुप्त-प्रेम अथवा पूर्वराग के विषय बने हैं। पति-वियोग से प्रारम्भ होकर विरह के कारण वेदनापूर्ण नेत्र, स्वप्नावस्था, अंग-सौन्दर्य की क्षति, स्वगत संलाप, मान-भंग, संयोग की प्रबल अभिलाषा पति-प्रेम के अन्तर्गत आये हैं। प्रिय-मिलन के पश्चात् हृदय पर वश न रहना, प्रणय कलह, प्रणय-कलह की सूक्ष्मता और उसका आनन्द इस भाग के विषय हैं। क्रमिक विकास की दृष्टि से यह विभाजन अत्यन्त सूक्ष्म है एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सफल है। तिरुवल्लुवर ने धर्म, अर्थ और काम का वर्णन किया है, मोक्ष का वर्णन उन्होंने नहीं किया, कारण स्पष्ट है - धर्म-युक्त जीवन व्यतीत करने के उपरान्त, 'मोक्ष' स्वाभाविक परिणाम है। यहां जीवन के रागात्मक सम्बन्ध, गृहस्थ की परिसीमा में आबद्ध होकर आए हैं। गृहस्थ के धर्म का विवेचन विस्तार से किया गया है। अर्थ के अन्तर्गत राज्य-संगठन का विस्तृत विश्लेषण कर मानव-मात्र के कल्याण की भावना से 'राज्य' को प्रेरित किया गया है। इस प्रकार जीवन के सम्पूर्ण विवेचन के उपरान्त मोक्ष (वीडु) का वर्णन न होने का कारण सम्भवतः यह है कि धर्म-आधृत अर्थ और काम के आदर्श से युक्त जीवन की परिणति 'मोक्ष' है।



धर्म एवं दर्शन विषयक विचार

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्ञी वितस्यापि हैतोः ।
नित्यो धर्मः सुख-दुःख त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
(महा.उद्योग, 40/12)

"सुख-दुःख अनित्य हैं, परन्तु धर्म नित्य है, इसलिए सुख की इच्छा से, भय से, लोभ से अथवा प्राण-संकट आने पर भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए । यह जीव नित्य है और सुख-दुःखादि विषय अनित्य हैं ।"

குடம்பை தனித்துஒழியப் புள்பறந் தற்றே
உடம்போடு உயிரிடை நட்பு.

कुडम्बै तनित्तु ओळियप् पुळ् परनूदद्रे
उडम्बोडु उयिरिडै नट्पु । (कुरल, 338)

आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध वैसा ही है जैसे पंख निकलने पर पक्षी अण्डे के खोल को त्याग देता है ।

மக்கள்மெய் தீண்டல் உடற்கின்பம் மற்றுஅவர்
சொற்கேட்டல் இன்பம் செவிக்கு.

मक्कळ्मेय् तीण्डल् उड्रकिन्बम् मद्रुअवर्
सोर्केट्टल् इनबम् सेविक्कु । (कुरल, 65)

अपने शिशु के मृदु अंगस्पर्श से शरीर रोमांचित होता है । उसकी मधुर तोतली वाणी आनन्द प्रदान करती है ।

तिरुवल्लुवर के ईश्वर, जगत् एवं उसकी नश्वरता, प्रारब्ध एवं कर्म ।
धर्म-परिवार और समाज के संदर्भ । प्रेम का महत्त्व । धर्म-व्यक्तिपरक रूप मन : आत्म-संयम, तृष्णा-त्याग ; वचन : सत्य-भाषण, मधुर-भाषण, मित-भाषण, कर्म: अहिंसा एवं मांसाहार-निषेध । धर्म-समाजगत रूप : लोकाचार, सदाचार, अपरिग्रह, निन्दा न करना, अक्रोध, परस्त्री-वर्जन, बाह्य-आडम्बर विरोध, परोपकार, अतिथि-सत्कार, दान, कृतज्ञता, क्षमा-भाव ।

2

धर्म एवं दर्शन विषयक विचार

धर्म एवं दर्शन विषयक विचार

'धर्म' समाज में व्यवहार के फलस्वरूप दो रूप ग्रहण करता है - (क) मानसिक आचरण की पवित्रता, समाज में रहते हुए कर्त्तव्य-कर्म तथा (ख) बाह्य कर्मकाण्ड, विधि-विधान आदि। धर्म का प्रथम रूप प्रायः सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। वल्लुवर इसी सार्वकालिक धर्म (अरम्) की स्थापना करते हैं। उनके धर्म का सम्बन्ध मानव एवं ब्रह्माण्ड के 'सत्य' से है। धर्म-खण्ड के प्रस्तावना भाग में चार अध्यायों में ईश्वर स्तुति (कडवुल वाऴ्त्तु), वर्षा का महत्व (वान्चिरप्पु), संन्यासी का महत्व (नीत्तारपेरुमै) और धर्म की शक्ति (अरन् वलियुरुत्तल्) विषयों पर विचार हैं। तत्पश्चात् कवि ने गृहस्थ जीवन का महत्व स्पष्ट करते हुए संयम, मधुरभाषण, सदाचरण, परोपकार, आतिथ्य आदि धर्म के बाह्य अंगों को काव्य का विषय बनाया है। गृहस्थ जीवन (प्रवृत्ति मार्ग) से सम्बद्ध अनेक विषय यथा जीवन-संगिनी के गुण, संतति, स्नेह-सम्पन्नता, पर-स्त्री-वर्जन, शिष्टाचार, दान, यश आदि अनेक विषयों के विस्तृत विवेचन के बाद संन्यास (निवृत्ति मार्ग) के लिए विधि-निषेध का निर्धारण किया है। इसके अंतर्गत दया (अरुकुडैमै), तप, (तवम्), सत्य-भाषण (वायूमै), अहिंसा (कोल्लामै) नश्वरता (निलैयामै), त्याग (तुरवु) सत्यज्ञान (मैय्युनर्तल्), तृष्णा त्याग (अवाअरुत्तल्) इत्यादि अनेक विषयों पर विचार करने के अनन्तर कवि ने भाग्य (ऊऴ्) पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भाग्य के अन्तर्गत कर्म-फल-सिद्धान्त को स्वीकार कर भाग्य की प्रबल शक्ति एवं पूर्व-जन्म के संचित कर्मों तथा इस जन्म के कर्मों के परिणामों का विवेचन किया है। स्पष्ट है कि कवि के समक्ष दो वर्गों का जीवन-चित्र था : गृहस्थ अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होकर जीवन व्यतीत करने वाले तथा निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करने वाले त्यागी पुरुष। गृहस्थ को संन्यासी की तुलना में अधिक महत्व मिला है पर निवृत्ति मार्ग के पथिक को भी दिशा-निर्देश देना वल्लुवर का लक्ष्य रहा है।

तिरुक्कुरल में समग्रतः 1330 कुरल हैं। 133 अध्यायों में प्रत्येक अध्याय 10 पदों का है। प्रथम 38 अध्याय धर्म (अरम्) विषयक, उसके पश्चात् 70 अध्याय

अर्थ (पोरुल) विषयक तथा शेष 25 अध्याय काम (इनबम्) अर्थात् आनन्द विषयक हैं।

वल्लुवर के ईश्वर

तिरुवल्लुवर ने 'सर्वेश स्तुति' नामक प्रथम पद में कहा है - सभी वर्ण-मालाओं का प्रथम अक्षर 'अ' होता है, सभी लोकों के मूल में 'आदि भगवान्' हैं (अहर मुदल ऍलुत्तेल्लाम् आदि भगवन् मुदद्रे उलहु)। इसमें श्रीमद्भगवद्गीता के 'अक्षराणामकारोऽस्मि' (10/30), तथा मुण्डक उपनिषद् के 'अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (1.1.7) से साम्य द्रष्टव्य है। कवि ने माना है कि भौतिक तत्व नाशवान हैं, उनका सम्बन्ध अनश्वर आत्मा से है, इस सम्बन्ध के फलस्वरूप दुःख उत्पन्न होते हैं, ईश्वर उन दुःखों का नाश करने वाला है (कुरल, 4)। वह मानव के हृदय-कमल को प्रफुल्लित करने वाला है, (कुरल, 3) जगत पापमय है, इस भवसागर को पार करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, परन्तु भगवान के चरणों की सहायता से इस कार्य को भी सम्पन्न किया जा सकता है (कुरल, 10)। ईश्वर सर्वज्ञ तथा निष्काम है (कुरल 2, 6)। वह सत्यज्ञान रूप है, उसके चरण अद्वितीय हैं (कुरल 2, 7)। श्री वैयापुरी पिल्लै तथा अनेक विद्वान् 'मलरमिचै एहिनान्' 'अरवाळि अन्तणन्' एवं 'एनगुनत्तान्' इत्यादि उक्तियों का सम्बन्ध जैन मत के 'अर्हत' से जोड़ते हैं परन्तु श्लेष द्वारा 'हृदय कमल में निवास करने वाले', 'धर्म सिंधु' तथा 'अष्टगुणसम्पन्न', अर्थ लिए जाएं तो उन्हें शैव दर्शन के साथ सम्पृक्त किया जा सकता है। 'अष्टगुण' जैन दर्शन के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय (घातीय कर्म) तथा आयु, नाम, गोत्र एवं वेदनीय (अघातीय कर्म) मानने वाले श्री ए. चक्रवर्ती जैसे विद्वान् हैं तो गीता में वर्णित अपरा प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) अथवा सांख्य द्वारा स्वीकृत पंचतन्मात्र, अहंकार, महतत्व और अव्यक्त से सम्बद्ध करने वाले भी अनेक विद्वान् हैं। इसी प्रकार से 'सर्वज्ञ', 'आदि भगवन्' इत्यादि विशेषणों पर दीर्घ समय से शास्त्रार्थ चल रहा है। डॉ. जी. यू. पोप तो तिरुक्कुरल पर ईसाई धर्म का प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करते रहे। आज यह सर्व-स्वीकृत है कि कवि ने अपनी पूर्व-परम्परा और अपने युग के समग्र प्रभाव को आत्मसात करके विभिन्न मतों द्वारा स्वीकृत ईश्वर की परिकल्पना की। उनके इस प्रयास के फलस्वरूप आज सभी धर्मों के अनुयायी कुरल को अपना ग्रंथ मानते हैं, अपनी आस्था का प्रमाण उसमें खोजते हैं। यह एक अद्भुत प्रयास है कि वैदिक काल की परम्परा, तमिल प्रदेश की सांस्कृतिक चेतना, जैन और बौद्ध चिंतन

तथा अन्य परिस्थितियों के आधार पर एक समन्वित दृष्टि का निर्माण हुआ। सगुण और निर्गुण से परे, आदि कारण प्रभु के चरणों की वंदना द्वारा मुक्ति का उल्लेख इसी दिशा का द्योतक है। यह 'परम दयालु' भक्तों को ग्राह्य है तो 'निष्काम', 'सत्य-ज्ञान-रूप', 'सर्वज्ञ' ज्ञान-मार्ग के साधकों का आराध्य बन जाता है।

जगत् एवं उसकी नश्वरता

नश्वरता (निलैयामै) का ज्ञान होने पर मनुष्य परमसत्य 'मेय्युणर्त्तल्' की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है। वल्लुवर मानते हैं कि भौतिक समृद्धि नाटक देखने के लिए रंगभूमि में आने वाले जनसमूह के सदृश है। नाटक के पश्चात् दर्शकों का विशाल समूह जिस प्रकार अतिशीघ्र रंगभूमि से चला जाता है वैसे ही लौकिक पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं (कुरल, 332)। मनुष्य को चाहिए कि जैसे ही धन प्राप्त हो अनश्वर धर्म-कार्य तुरन्त कर ले (कुरल, 33)। समय आरे के समान जीवन को धीरे-धीरे काट रहा है, अतः पूर्व इसके कि अंतिम हिचकी आए, वाणी बन्द हो जाए, मनुष्य को सत्कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए (कुरल, 334)। यह इस विश्व की महिमा ही है कि जो कल था वह आज नहीं है (कुरल, 335)। मूर्ख मनुष्य इसको न समझ अनेकानेक योजनाएं बनाता है (कुरल, 336)। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अस्थायी है। पंख निकलने पर पक्षी अण्डे के खोल को त्याग देता है, इसी प्रकार आत्मा शरीर का बन्धन त्याग देता है (कुरल,338)। मृत्यु का अर्थ नाश नहीं है, यह तो एक गहरी निद्रा के सदृश है, पुनर्जन्म निद्रा से जागने के समान है (कुरल, 339)। आत्मा को सम्भवतः निश्चित् आवास प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए वह शरीर में अस्थायी निवास करता है (कुरल, 340)। विश्व की नश्वरता एवं असारता का विशेष परिचय देकर कवि मानवमात्र को चिरस्थायी, अनश्वर धर्म-कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।

प्रारब्ध एवं कर्म

तिरुवल्लुवर ने धर्म-खण्ड को चार भागों में विभक्त किया। यह भी सम्भव है कि यह विभाजन कवि द्वारा न किया गया हो अपितु बाद में टीकाकारों ने किया हो। इस विभाजन में प्रथम चार अध्याय प्रस्तावना के हैं जिनमें सर्वेश-वंदना, वर्षा का महत्व, संन्यासी का महत्व और धर्म की शक्ति विषय हैं। गृहस्थ-धर्म के अन्तर्गत धर्मपत्नी, सन्तान, स्नेह-युक्तता, आतिथ्य, मधुर-भाषण, संयम, शिष्टाचार, दान आदि विषय हैं। संन्यास-धर्म के खण्ड में दया, मांसाहार-वर्जन, तप, सत्यभाषण, अक्रोध, अहिंसा, तत्व-ज्ञान आदि का वर्णन हुआ है। इससे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। 'ऊळियल्'

(प्रारब्ध प्रकरण) के अन्तर्गत 'भाग्य' का यह विवेचन कर्म-सिद्धान्त की स्वीकृति है। श्री वी. वी. एस. अय्यर का मत है कि 'ऊळ्' अथवा 'भाग्य' से अभिप्राय मनुष्य के संचित कर्मों की उस शक्ति से है जिसका अभी उपभोग नहीं हुआ है। यह एक शक्तिशाली तत्व है और इसका प्रभाव जन्म से ही मनुष्य के चरित्र एवं उसकी प्रवृत्तियों पर पड़ता है। कवि जिन सिद्धान्तों अथवा नियमों का प्रतिपादन कर रहा है, उसको समाज स्वीकार करे, उसका पालन हो, इसके लिए उसके पास कोई साधन नहीं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि पाप-कर्म करने का परिणाम उसे ही भोगना पड़ेगा - चाहे अगले जन्म के दुःख और कष्ट के रूप में - तो उससे बचने का वह प्रयास करेगा। साथ ही यदि स्पष्ट हो कि पुण्य-कर्म एक कोष के समान है, जो अनेक जन्मों तक आनन्द की पूर्ति में सहायक होंगे तो जनता को धर्म-मार्ग पर अग्रसर करने के लक्ष्य की पूर्ति अपेक्षाकृत सरल हो जाती है। सम्भव है कि इस चिन्तन का यह आधार रहा हो।

मनुष्य का भाग्य अच्छा हो तो वह प्रयत्न कर धन-संचय करता है। यदि भाग्य विपरीत हो तो वह आलस्यवश धन नाश करता है (कुरल, 371)। भाग्य यदि विपरीत है तो बुद्धि मन्द हो जाएगी, यदि भाग्य पक्ष में है तो वही बुद्धि विशाल एवं निर्मल बनेगी (कुरल,372)। भाग्य अनुकूल नहीं तो गहन शास्त्रीय अध्ययन करने पर भी मनुष्य उचित मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाएगा (कुरल, 373)। जो भाग्य में नहीं है, उसकी रक्षा करने पर भी वह नहीं रहेगा, पर जो भाग्य में है, उसका त्याग कर देने पर भी वह मनुष्य के पास ही रहेगा (कुरल, 376)। मनुष्य चाहे अतुल धनवैभव का संग्रह कर ले उसका उपभोग वह भाग्यानुसार ही प्राप्त करेगा (कुरल, 377)। दुःख-भोग कर्मफल के अधीन हैं अन्यथा सभी दरिद्र मनुष्य कामना का त्याग कर संन्यासी बन जाएं (कुरल, 378)। मनुष्य जब भाग्यवश सुखी होता है तो वह प्रसन्न होता है, तब वह दुःख प्राप्त होने पर दुःखी क्यों होता है ? (कुरल, 379)। भाग्य से बढ़कर कोई शक्ति नहीं, ज्यों ही कोई भाग्य को नीचा दिखाने का प्रयास करता है, भाग्य अपने प्रभाव द्वारा उसे असफल कर देता है (कुरल, 370)। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि कुरल संख्या 619 में वल्लुवर ने प्रतिपादित किया है कि भाग्य से सिद्ध न होने पर भी मानव का संघर्ष, उसका प्रयास, उसके श्रम की मजदूरी अवश्य प्रदान करेगा और निरन्तर अनथक परिश्रम करने वाले भाग्य को परास्त कर देंगे क्योंकि सौभाग्य का न होना किसी के लिए दोष नहीं है, विचारपूर्वक सत्प्रयास न करना ही दोष है (कुरल 620, 618)। इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि कवि ने कर्म के महत्व को, निष्ठापूर्वक श्रम करने को, विशेष सम्मान दिया है। यह कर्म में प्रवृत्त होने का सन्देश है, अकर्मण्यता

का नहीं, अतः उनका कथन है कि किसी भी कार्य को असाध्य मानकर उससे विमुख होना, अकर्मण्य होना उचित नहीं क्योंकि सत्प्रयास का यथोचित प्रभाव अनिवार्य है (कुरल, 611)।

धर्म - परिवार और समाज के सन्दर्भ

तिरुक्कुरल के धर्म-खण्ड में प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग दोनों के लिए मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। तिरुवल्लुवर ने धर्म के लक्षण एवं उसके रूप की व्याख्या करने के साथ उसके महत्व की ओर संकेत किया है। धर्म की शक्ति (अरन् वलियुरुत्तल) शीर्षक के अन्तर्गत ग्रहण करने योग्य सत्कर्म (कुरल,40) को ही धर्म माना है। मन की निर्मलता वास्तविक धर्म है (कुरल, 34)। यह मार्ग ईर्ष्या, लोभ और कटु वचनों से मुक्त रहने का मार्ग है (कुरल, 35)। इससे दो प्रकार की उपलब्धियों का उल्लेख है : लौकिक सुख-ऐश्वर्य और पारलौकिक आनन्द। कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करना, कर्म त्याग कर वनप्रदेश में तपस्या करने से कहीं श्रेष्ठ है। इस मार्ग का आधार गृहस्थ है जिसका निर्माण पति-पत्नी और संतति से होता है। दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध पति - पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं। गृहस्थ के संतुलन के लिए परस्पर प्रेम-भाव एवं अटूट विश्वास अनिवार्य आवश्यकता है। परिवार सम्पूर्ण समाज की आधारशिला है। विस्तृत अर्थ में सामाजिक कर्तव्यों का आधारभूत ज्ञान गृहस्थ में ही प्राप्त ओता है। मानव-धर्म की शिक्षा का स्थल यही है। यह प्रेम संकुचित भावनाओं से मुक्त होता हुआ अन्य के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करते हुए आत्मगौरव और आत्मसंतोष प्राप्त करने का मार्ग है। वल्लुवर मानते हैं कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन तीनों आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित हैं, अतः धर्म में गृहस्थ की महती आवश्यकता है। इसी प्रकार निराश्रित, निर्धन और मृतकों का सहायक भी गृहस्थ ही है (कुरल, 41, 42)। धर्म-कार्य करने का श्रेष्ठ मार्ग गृहस्थ जीवन है, यह जीवन में अन्य सभी आश्रमों से श्रेष्ठ है। गृहस्थ को धन-संग्रह के समय पाप से निरन्तर बचना चाहिए और व्यय करते समय अन्य को खिलाकर जीवन व्यतीत करना चाहिए (कुरल 47, 48)। परिवार में प्रेम और धर्म का आश्रय ग्रहण करने से गृहस्थ को संतोष की प्राप्ति होगी, उसे अन्य लोगों को धर्म में प्रवृत्त करना चाहिए और स्वयं भी धर्मानुकूल आचरण करना चाहिए (कुरल,45, 48)। इस गृहस्थ के संचालन के लिए आधार है - सहधर्मिणी एवं संतति। जीवन-संगिनी के गुणक्ष (वाऴ्कैत्तुणैनलम्) में वल्लुवर ने परिवार के यश और गौरव की रक्षा करना, पति की सुविधाओं का ध्यान रखना तथा पारिवारिक कर्त्तव्यों के पालन

आदि का उल्लेख किया है। वह मानते हैं कि स्त्री के चरित्र की रक्षा वाह्य बन्धनों से नहीं, अपितु अपने इन्द्रियनिग्रह से ही सम्भव है। यदि स्त्री धर्म-परायण है तो परिवार में निर्धनता का वास सम्भव नहीं; यदि पत्नी सद्गुणों से युक्त है तो और चाहिए ही क्या ? इत्यादि कथन स्त्री के सद्गुण-सम्पन्न होने की आवश्यकता का उल्लेख करते हैं। यह कृषि-प्रधान युग की कृति है जहां पुरुष का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है, पर कहीं भी स्त्री की मर्यादा में कमी स्वीकार नहीं की गई। उसकी सामाजिक स्थिति पुरुष की तुलना में चाहे कम हो, पर उस पर किसी प्रकार का बन्धन, अंकुश आदि लगाने की बात कवि के समक्ष नहीं। गृहकार्य, व्यय-नियंत्रण, संतानोत्पत्ति, धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करना तथा पति के प्रति एकनिष्ठता का ही उल्लेख है। सन्तान अथवा पुत्र के प्रति पिता का दायित्व यह माना कि उसे विद्वत्सभा में प्रथम पंक्ति में बैठने योग्य बना दे (कुरल, 67)। शिशुओं के स्पर्श से शरीर को और उनके तोतले शब्दों से कानों को आनन्द प्राप्त होता है (कुरल, 65)। पिपहरी (कुळल्) मधुर है, याळ् (वीणा जैसा वाद्य यंत्र) मधुर है, ऐसा वही कहते हैं जिन्होंने अपने बच्चों की तोतली वाणी का आस्वादन नहीं किया (कुरल, 66)। बच्चों के कोमल हाथों से जिस भोजन में खिलवाड़ हुआ हो, माता-पिता के लिए वह अमृत से भी अधिक मधुर होता है (कुरल,64)। पुत्र का कर्त्तव्य यही है कि अपने कर्मों द्वारा लोगों के मुख से यह कहलवाए कि न जाने किस तप के प्रभाव से इसके पिता को इस पुत्र की प्राप्ति हुई (कुरल, 70)। लोगों के मुख से पुत्र की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर माता का आनन्द पुत्र-जन्म के समय हुए आनन्द से भी बढ़ जाता है (कुरल,69), अतः प्राप्य वस्तुओं में बुद्धिमान सन्तान को कवि श्रेष्ठ उपलब्धि मानते हैं (कुरल,61)।

प्रेम का महत्व

गृहस्थ में धर्म का आधार है प्रेम-भाव, क्योंकि पति, पत्नी और संतान को एक सूत्र में बांधने वाला यही तत्व है। वल्लुवर ने माना है कि प्रेम को किसी भी अर्गला से आवृत्त नहीं किया जा सकता, प्रिय के अश्रुबिन्दु उसके रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। प्रेम से सहृदयता का जन्म होता है और इन दोनों के समन्वय से मित्रता रूपी बहुमूल्य रत्न उत्पन्न होता है (कुरल, 71,74)। सूर्य अस्थिविहीन जीवों को अपनी तीव्रता से नष्ट कर देता है, यही दशा प्रेम-विहीन धर्म की होती है। प्रेम के अभाव में जीवन 'स्व' तक सीमित होकर रह जाता है। अन्य के प्रति प्रेम-भावना-युक्त व्यक्ति परोपकार के लिए स्वजीवन तक उत्सर्ग कर देते हैं (कुरल, 77,72)। यदि हृदय में

प्रेम का अभाव है तो वाह्य सौन्दर्य एवं रूप का क्या लाभ? आत्मा ने तो शरीर का बन्धन प्रेम के आनन्द की प्राप्ति के लिए स्वीकार किया है, अतः जिस शरीर में प्रेम है, वहां जीवन है, प्रेम-विहीन शरीर केवल चर्म-आवृत अस्थियों का ढांचा मात्र है (कुरल, 79, 73, 80)। इस प्रकार वल्लुवर धर्म का आधार परिवार - पुरुष, स्त्री और संतान तथा धर्म को अग्रसर करने के लिए प्रेम-भाव की अनिवार्य आवश्यकता पर बल देते हैं। वल्लुवर का प्रेम (अनूबुटैमै) लौकिक धरातल पर परिपक्व होकर सामाजिक सम्बन्धों में अभिव्यक्त होता है। उसका धरातल आध्यात्मिक नहीं आत्मा का विस्तार अवश्य है।

धर्म - व्यक्तिपरक एवं समाजपरक

वल्लुवर के धर्म-खण्ड के शेष अंश को हम दो प्रमुख खण्डों में विभक्त कर सकते हैं :-

धर्म का व्यक्तिपरक रूप -	मन : इन्द्रिय-निग्रह, तृष्णा-त्याग वचन : सत्य भाषण, मधुर भाषण, मित भाषण कर्म : अहिंसा, मांसाहार-निषेध, सदाचार
धर्म का समष्टिगत रूप -	अपरिग्रह, निन्दा न करना, अक्रोध, पर-स्त्री-वर्जन, बाह्य-आडम्बर-विरोध, परोपकार, अतिथि-सत्कार, दान, कृतज्ञता, क्षमा-भाव।

धर्म का व्यक्तिपरक - रूप - मन

इन्द्रिय-निग्रह, तृष्णात्याग

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मन निःसन्देह कठिनता से वश में होने वाला और चंचल है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है :

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ 6/35

श्रीमद्भगवद्गीता के चिन्तन को व्यावहारिक जीवन में ढालने का संदेश तिरुवल्लुवर ने दिया है। वल्लुवर 'अटक्मुटैमै' अर्थात् 'आत्म-संयम' अध्याय के अन्तर्गत इसी आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता पर बल देते हैं। आत्मसंयम को धर्म-मार्ग मानकर उसका अनुसरण करने वाला व्यक्ति विद्वानों द्वारा समादृत होता है। पर्वत के समान विशाल एवं दृढ़ यश-युक्त संयत व्यक्ति के लिए वह विशिष्ट आभूषण है। पंचेन्द्रिय पर नियंत्रण रखने का संदेश देते हुए कवि का कथन है कि यदि किसी अंग पर नियंत्रण संभव न हो तो अपनी जिह्वा पर अवश्य ही नियंत्रण रखो क्योंकि वाणी के दोष से

अनेक कष्टों की प्राप्ति होती है। आग का जला घाव कुछ समय पश्चात् ठीक हो केवल चिह्न छोड़ जाता है पर वाणी का घाव सदा ही हरा बना रहता है। ज्ञानयुक्त, इन्द्रियनिग्रही व्यक्ति यदि क्रोध से मुक्त है तो धर्म स्वयं चलकर उसके पास आएगा। संन्यासी और गृहस्थ दोनों के लिए संयम की आवश्यकता है परन्तु संन्यासी के लिए इन्द्रिय-निग्रह का महत्व गृहस्थ की अपेक्षा अधिक है। पंचेन्द्रिय को नियंत्रित कर संन्यासी समस्त जीवों के प्रति स्नेह-युक्त एवं दयालु होता है। उसकी वाणी नियंत्रित और वचन तत्व-युक्त होते हैं, ऐसा इन्द्रिय निग्रही सन्त सम्पूर्ण विश्व में यश प्राप्त करेगा, वस्तुतः सम्पूर्ण संसार ही ऐसे व्यक्तियों के वश में है।

संसार के प्रबल आकर्षणों के प्रति कामना सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वल्लुवर ने तृष्णा-दमन (अवाअरुत्तल्) के अन्तर्गत तृष्णा को महादुःख माना है जिसके समाप्त हो जाने पर स्थायी सुख की प्राप्ति होती है। कामना का स्वभाव तृप्त होने का नहीं है, अतः इसकी तृप्ति का प्रयास न करके इसके दमन से ही स्थायी आनन्द प्राप्त होगा। निष्काम होना ही मुक्ति है, सत्य की कामना से वह स्वतः प्राप्त हो जायेगी। सभी कालों में जन्म और मृत्यु के चक्र का बीज-कारण तृष्णा है, अतः तृष्णारहित मुक्त हो जाते हैं। तृष्णा से डरना चाहिए क्योंकि वह असावधान पाकर मनुष्य को अपने जाल में फंसा लेती है।

धर्म का व्यक्तिपरक रूप : वचन

सत्य भाषण, मधुर भाषण, मित भाषण

तिरुवल्लुवर का 'सत्य' से अभिप्राय उस वचन से है जो किसी को कष्ट अथवा हानि न पहुंचाए (कुरल, 291)। वह तो किसी अन्य के लिए लाभप्रद असत्य को भी सत्य के अन्तर्गत मानते हैं। हृदय में भी असत्य विचार न करने वाले मनुष्य सब के हृदय में निवास करते हैं। शरीर की बाह्य स्वच्छता जल से और आंतरिक पवित्रता सत्य द्वारा होती है। (कुरल 292,294,298)। असत्य-त्याग से मनुष्य यशस्वी होता है और बिना तपस्या के ही स्वतः 'धर्म' प्राप्त कर लेता है (कुरल, 296)।

धर्म के मर्मज्ञों के स्नेहयुक्त, प्रवंचना से रहित वचन ही मधुर वचन होते हैं। विभिन्न प्रकार के दानकर्मों से अधिक महत्वपूर्ण मधुर मुस्कान से युक्त मीठे शब्द हैं (कुरल 91, 92)। दूसरे मनुष्यों के हृदयों को आह्लादित करने वाले, मधुर वाणी बोलने वाले व्यक्ति के पास दारिद्रय-दुःख नहीं फटकता। विचारों में पावित्र्य, वाणी में कोमलत्व

से मनुष्य के पाप नष्ट होकर धर्म की अभिवृद्धि होती है। मीठे शब्दों के होते हुए कटु वचनों का प्रयोग पके फल के रहते कच्चे फल तोड़कर खाने के सदृश है। आश्चर्य तो यह है कि मधुर वचनों के प्रयोग से होने वाले लाभों को जानते हुए भी मनुष्य कटु वचनों का व्यवहार करता है (कुरल, 94, 100, 99) अतः नम्रता और स्नेह पूर्ण मधुर वचन ही मनुष्य के वास्तविक अलंकार हैं (कुरल, 95)।

व्यर्थ भाषण (पयनिल-चोल्लामै) में तिरुवल्लुवर का मत है कि वृथा प्रलाप करना मित्रों के प्रति अनुचित कर्म करने से भी हीन है। व्यर्थ प्रलाप से अन्य व्यक्तियों को रुष्ट करने वाला सब की दृष्टि में हेय बन जाएगा। श्रेष्ठ व्यक्ति भी यदि व्यर्थ प्रलाप करे तो कीर्त्ति और सम्मान खो बैठेगा। असंस्कृत, निरर्थक वचन व्यक्ति को धर्म-विमुख कर निरादर देते हैं। वृथा भाषण करने वाला व्यक्ति भूसे के समान थोथा है। उच्चतर मूल्यों के ज्ञाता विद्वान् कभी भी निरर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। यदि बोलना ही है तो तत्व-युक्त शब्दों का प्रयोग करे। इसीलिए माया के भ्रम से मुक्त तत्त्व-ज्ञानी अनजाने में भी व्यर्थ शब्दों का प्रयोग नहीं करता। वल्लुवर के अनुसार निष्प्रयोजन प्रलाप करने वाला स्वयं को नीति-विहीन सिद्ध करता है (अध्याय 20)।

धर्म का व्यक्तिपरक रूप : कर्म

अहिंसा एवं मांसाहार निषेध

तिरुवल्लुवर का मत है कि हिंसा से सभी पाप स्वतः आकृष्ट होते हैं अतः मनुष्य को अहिंसा-धर्म का निर्वाह करना चाहिए। 'कोल्लामै' (अहिंसा) के अन्तर्गत उनके विचार इस प्रकार हैं - अन्य मनुष्यों के साथ बांट कर भोजन करना और दूसरे जीवों की रक्षा करना सभी धर्म-ग्रंथों का सार है। जीव-रक्षा में प्रवृत्त गृहस्थ का महत्व संसार-त्यागी से भी अधिक है। महत्व की दृष्टि से सत्य भाषण का स्थान अहिंसा के पश्चात् है। हिंसा-कर्म से मनुष्य को रोग एवं दारिद्रय की प्राप्ति होती है। अन्य के प्राणों की रक्षा में स्वप्राणों की आहुति दे देना भी उचित है। 'मुक्ति' भी जीवन-हत्या से विमुख होकर रहने पर ही प्राप्त होगी (अध्याय 33)

दयाभाव को धर्म का विशिष्ट अंग मानने वाल कवि का मांसाहार विरोध स्वाभाविक है। किसी जीव के प्राणों का नाश करके उसके मांस का भोजन करने वाला मनुष्य दया-रहित हो जाता है। मांसाहार निषेध (पुलाल् मरुत्तल्) अध्याय के अन्तर्गत उनका मत है कि अपव्ययी के पास धन और मांसाहारी के पास दयाभाव शेष नहीं

रहता। मांसाहार अधर्म है, हिंसा क्रूरता है; मांस-भक्षण न करने से जीव रक्षा होती है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि वे तो हत्या नहीं करते, केवल विक्रय के लिए प्रस्तुत मांस का ही क्रय करते हैं, उसकी ओर संकेत करते हुए कवि का कथन है कि यदि लोग खाने के लिए मांस क्रय न करें तो कोई उसे विक्रय के लिए प्रस्तुत ही क्यों करें ? (कुरल, 256)। विशुद्ध-बुद्धि मनुष्य जीवहत्या से प्राप्त मांस कभी ग्रहण नहीं करते। आहुतियां देकर यज्ञ-कर्म करने से भी श्रेष्ठ है जीव-हत्या एवं मांसाहार में प्रवृत्त न होना। अहिंसक मांस-भक्षण न करने वाले व्यक्ति का सम्पूर्ण विश्व में आदर होता है। स्पष्ट है कि वल्लुवर 'अहिंसा परमोधर्मस्तथाहिंसा परं तपः' के भाव का प्रतिपादन करते हैं और इस दृष्टि से उन्हें 'जैन' चिंतन के अपेक्षाकृत अधिक निकट माना जाता है।

सदाचार

व्यक्तिपरक धर्म में सदाचरण का विशिष्ट महत्व ह। वल्लुवर ने इस तथ्य का प्रतिपादन सदाचरण (ओलुक्कमुटैमै) शीर्षक के अन्तर्गत किया है। आचरण की पवित्रता धर्म का मूल है, इसके विपरीत दुराचरण कष्टों को जन्म देता है। सदाचारी व्यक्ति अनजाने में भी अनुचित शब्दों का प्रयोग नहीं करता। आचरण की पवित्रता से यश प्राप्त होता है अतः सदाचरण प्राणों से भी बढ़कर है। ज्ञानी को यदि ज्ञान विस्मृत हो जाए तो उसका पुनः-अध्ययन सम्भव है, पर एक वार चरित्र-नाश होने पर उसकी प्रतिष्ठा सदा के लिए नष्ट हो जाती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति सुख-समृद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार चरित्रहीन व्यक्ति को यश की प्राप्ति नहीं होती। दृढ़-मस्तिष्क व्यक्ति सदाचार का त्याग नहीं करते क्योंकि वे इससे होने वाले कष्टों से परिचित हैं। सदाचारी व्यक्ति अनजाने में भी अनुचित शब्दों का प्रयोग नहीं करता। जो व्यक्ति अनेक विद्याओं का अध्ययन करके भी समाज के साथ मिलकर उचित आचरण नहीं करते, वे अज्ञानी ही कहे जायेंगे। समग्रतः वल्लुवर आचरण की शुद्धता में कटु वचनों के प्रयोग से बचने का विशेष उल्लेख करते हैं।

धर्म का समाजगत रूप - लोकाचार

अपरिग्रहः

सामाजिक जीवन को मर्यादित रखने के लिए आवश्यक है कि दूसरे की सम्पत्ति को छल, कपट, षड्यंत्र अथवा बलपूर्वक हस्तगत न किया जाए। इसी का संकेत स्पष्ट करते हुए कुरलकार का कथन है - दुष्कर्मों से बचने वाले मनुष्य क्षणिक लाभ के लिए लोभ नहीं करते ; वास्तविक आनन्द प्राप्ति के इच्छुक अन्य की सम्पति

कभी नहीं हथियाते । इन्द्रिय-निग्रही, निष्कलंक विद्वान्, अभावग्रस्त होने पर भी अन्य की संपत्ति की कामना नहीं करते (कुरल, 172,173,174) । ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने का इच्छुक धर्म-मार्ग का पथिक यदि अर्थ-लोभ से पाप-कर्म में प्रवृत्त होगा तो नष्ट हो जायेगा क्योंकि लोभवश प्राप्त धन के भोग से कभी भी आनन्द की प्राप्ति नहीं होती (कुरल, 176,177) । धर्म के ज्ञाता, बुद्धिमान, निर्लोभी मनुष्य जीवन में सफलता प्राप्त करेंगे, लक्ष्मी स्वयं चल कर उनके पास आएगी (कुरल,179) । धर्म-मार्ग का त्याग कर दूसरे की संपत्ति हस्तगत करने वाले व्यक्ति का परिवार नष्ट होगा और उसे अपयश की प्राप्ति होगी (कुरल, 171)।

निन्दा न करना

निन्दक प्रायः विश्वासपात्र होने का ढोंग रचकर स्वस्थ सामाजिक वातावरण में विष-वमन करता है । किसी व्यक्ति की सद्भावना से प्रेरित होकर की गई स्वस्थ आलोचना उसको अपने दोष सुधारने का अवसर देना है । उसकी अनुपस्थिति में निन्दा करना प्रायः ईर्ष्या अथवा द्वेषादि के परिणामस्वरूप होता है । तिरुवल्लुवर का मत है कि व्यक्ति धर्म-वचन न बोले, अधार्मिक कार्य करे, परन्तु पीठ पीछे किसी की निन्दा का अधर्म न करे। 'पुरङ्कुरामै' शीर्षक से इन्होंने माना है कि पीछे किसी की निन्दा और उसके समक्ष मधुर भाव से मुस्कराना धर्म-विरोध करने और पाप में लिप्त होने से भी अधिक अनुचित है। परनिन्दा जैसा दुष्कर्म करते हुए असत्याश्रित जीवनयापन से अच्छा मार्ग तो दरिद्र रहकर मृत्यु प्राप्त करना है । धर्म का ढोंग करने वाले की एक ही पहचान है – उसका परनिन्दा के पाप में प्रवृत्त होना । मधुर वचनों से मैत्री की रक्षा करने में असमर्थ पीठ पीछे कटु वचनों के प्रयोग द्वारा बन्धु-बान्धवों से भी अलग हो जायेंगे । जो अपने निकट के मित्र की भी निन्दा करते हैं, वे अन्य लोगों के प्रति न जाने क्या कर्म करेंगे ? धरती सम्भवतः अपने धैर्य-धर्म की रक्षा के लिए ही ऐसे निन्दक व्यक्तियों को धारण करती है ।

अक्रोध

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने क्रोध को रजोगुण से उत्पन्न मानते हुए इसे मनुष्य का शत्रु माना है । वल्लुवर ने इसके दमन का उपदेश देते हुए कहा है कि व्यक्ति क्रोध का वहां नियंत्रण करे जहां वह दूसरों को हानि पहुंचाने में समर्थ है । निर्बल का क्रोध वृथा है, पर शक्तिशाली का क्रोध कुत्सित अपराध है । क्रोध का परिहार होना चाहिए अन्यथा यह अनर्थ का कारण बनता है । यह भयंकर शत्रु है क्योंकि यह मनुष्य के

आनन्द और उल्लास को नष्ट करता है। मनुष्य को इससे अपनी रक्षा करनी चाहिए अन्यथा यह सर्वनाश कर देगा। यही नहीं, क्रोध जीवन-धारा में नाव-सदृश सहायक इष्टबन्धुओं के स्नेह को भी नष्ट कर देता है। वल्लुवर ने क्रोध से सम्भव भ्रांति, कर्तव्याकर्तव्य-विवेकहीन स्थिति से बचने के लिए अपना स्पष्ट अभिमत दिया है – क्रोध के वशीभूत व्यक्ति मृतकसमान हैं, क्रोध-त्याग करने में समर्थ ऋषितुल्य हैं। (अध्याय वेहुळामै - क्रोध न करना, कुरल, 301-310)।

पर-स्त्री-वर्जन

सामाजिक जीवन में स्थैर्य के लिए एवं उसे दुराचरण से मुक्त रखने के लिए पारिवारिक जीवन की पवित्रता स्वतः स्पष्ट है। सहधर्मिणी के गुणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने माना कि पत्नी का चरित्र श्रेष्ठ हो, वह सतीत्व युक्त हो, प्रेम और सद्भाव से गृहस्थ चलाए इत्यादि। पत्नी के चरित्र की रक्षा के लिए समाज के पुरुष-वर्ग का भी तो दायित्व है कि अपने काम-सम्बन्ध अपनी पत्नी तक ही सीमित रखें। 'पर-स्त्री-वर्जन' शीर्षक से पुरुष-मात्र को इस अधर्म-कार्य से विमुख रहने का आदेश देते हुए वल्लुवर व्यभिचार एवं सीमोल्लंघन के लिए पुरुष को दोषी मानते हैं। धर्म और सम्पति के नियमों से परिचित व्यक्ति परस्त्री से प्रेम करने की मूर्खता नहीं करते। धर्म-कार्यों से विमुख व्यक्तियों में निकृष्ट वह है जो अन्य की स्त्री की कामना करता है (कुरल, 141, 142)। विश्वास करने वाले मित्र की पत्नी की कामना करने वाला तो मृत हो गया है। मनुष्य चाहे कितना ही महान् क्यों न हो, यदि वह व्यभिचार की लज्जा का ध्यान न कर परस्त्री-गमन करता है तो वह किस काम का ? (कुरल, 143, 144)। व्यभिचारी को शत्रुता, पाप, भय और निन्दा से कभी मुक्ति नहीं मिलेगी। किसी अन्य की पत्नी की कामना न करना धर्माचरण मात्र ही नहीं, प्रत्युत मूल सदाचार है (कुरल, 146, 147)। समुद्रावृत पृथ्वी के विभिन्न वैभवों का अधिकारी वही व्यक्ति है जो अन्य पुरुष की स्त्री के स्कन्धों को अपने बाहुपाश में आबद्ध नहीं करता (कुरल, 149)। अतः मनुष्य चाहे धर्म-कार्य न करे, चाहे समस्त पाप-कर्म करे पर दूसरे की पत्नी की कामना न करे (कुरल, 150)।

बाह्य-आडम्बर विरोध

संन्यास धारण करके, विविध भोगादि के साधनों में लिप्त रहने वाले ढोंगी साधु निवृत्ति मार्ग के अधिकारी नहीं। केवल वेष से संन्यासी समाज में अनर्थ का कारण बनता है। तपस्वी के सन्दर्भ में आचरण की पवित्रता अनिवार्य आवश्यकता है। समाज

में सत् और असत्, उचित एवं अनुचित तथा तपस्वी एवं ढोंगी का अन्तर जान लेना कठिन है। इसी दृष्टि से 'पाखण्ड' (कूडा ओळुक्कम्) शीर्षक के अन्तर्गत ढोंगी तपस्वियों का उल्लेख प्रकारान्तर से तपस्वी के लिए निषिद्ध कार्यों का भी संकेत देता है। मनुष्य के दुराचरण को अन्य कोई जाने या न जाने, उसके शरीर के पांचों तत्व अन्दर ही अन्दर उस पर हंसते हैं। तपस्वी के लिए इन्द्रिय-निग्रह प्रथम आवश्यकता है, इसमें असमर्थ व्यक्ति शेर की खाल में घास चरने वाली गाय के समान है (कुरल, 271, 273)। तपस्वी वेश में पापाचार करने वाला मनुष्य पाखण्ड कर रहा है, वह छिपकर पक्षी पकड़ने वाले बहेलिए के समान वंचक है, 'विरक्त' कहलाने से पूर्व मनुष्य को हृदय से मुक्त होना आवश्यक है। ढोंगी व्यक्ति का बाह्य रूप तो घुंघची के समान सुन्दर होता है, पर उसका अन्तस् उसके काले दाग के सदृश होता है (कुरल, 274, 276, 277)। तीर्थ स्थानों पर अनेक ढोंगी तापस वेश धारण कर कुकर्मों में लिप्त रहते हैं। मानव की पहचान उसके कर्मों से होनी चाहिए ; बाह्य रूप, वेश आदि से नहीं, क्योंकि तीर सीधा होता है पर घाव करता है, याळ् (वीणा) टेढ़ी होने पर मधुर ध्वनि देती है। यदि मनुष्य का हृदय शुद्ध है तो सिर मुंडवाने या जटा रखवाने की क्या आवश्यकता है ?(कुरल, 278, 279, 280)।

परोपकार

मानव भावनाओं के उच्चतर सोपान पर परोपकार का भाव स्वतः जागृत एवं विकसित होता है। आत्मा की एक शक्ति के रूप में स्वीकृत इसका आधार 'स्व' का विस्तार है। सामाजिक जीवन में सह-अस्तित्व की भावना का भी यह आधार है। वर्षा प्रदान करने वाले बादल प्रत्युपकार नहीं चाहते इसी प्रकार परोपकार के बदले में किसी प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य जीवन में परिश्रम से धन अर्जित करता है उसका उद्देश्य यही है कि सत्पात्र की सहायता की जाए (कुरल, 21[illegible], 212)। समृद्ध परोपकारी मनुष्य सदा जल से पूर्ण सरोवर के समान है, इस प्रकार का मनुष्य गांव के मध्य में लगे फलयुक्त वृक्ष के सदृश है (कुरल, 21[illegible], 2[illegible])। [illegible] मनुष्यों को, औषधि में प्रयुक्त होने वाले वृक्ष के समान, [illegible] कर्त्तव्य के ज्ञाता दरिद्रता में भी परोपकार से विमुख नहीं होते (कुरल, 2[illegible]) जब ये सहायतापेक्षी की सहायता में असमर्थ होते हैं [illegible] परहित में संलग्न व्यक्ति ही जीवन में [illegible] है।

अतिथि-सत्कार

तिरुवल्लुवर के अनुसार गृहस्थ का निर्माण ही अतिथि-सेवा के उद्देश्य से होता है। शिरीष (अनिच्चम्) का पुष्प सूंघने से मुरझा जाता है, अतिथि की ओर से मुंह फेर लेने पर उसके हृदय की भी यही दशा होती है (कुरल, 81, 90)। मनुष्य चाहे अमरत्व प्रदान करने वाले अमृत का ही पान क्यों न कर रहा हो, उस समय भी अतिथि का सहर्ष स्वागत करना चाहिए। यथोचित अतिथि-सत्कार से मनुष्य के घर में लक्ष्मी का सानन्द निवास होता है, निर्धनता और दैन्य से रक्षा होती है। अतिथि-सत्कार के विना धनी अपने धन के मध्य भी निर्धन है (कुरल, 82, 84, 83, 89)। तद्‌युगीन समाज की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में वर्णित अतिथि-सत्कार के मूल में शिष्टाचार, भ्रातृभाव एवं सर्वत्र व्याप्त एक ही आत्मतत्व के दर्शन का आधार है।

दान

'ईकै' अर्थात् दान शीर्षक के दस कुरल 'निर्धन तथा अभाव-पीड़ित' को दी गई सहायता के महत्व का प्रतिपादन करते हैं। अन्य सब उपहारों के वदले में तो कुछ प्राप्त करने की कामना रहती है पर दान में यह भाव नहीं रहता (कुरल, 221)। दान देने से यदि स्वर्ग भी छिनता हो तो भी दान देना उचित है, पर दान लेने से यदि स्वर्ग भी मिलता हो तो भी दान लेना अनुचित है। पीड़ित, निर्धन व्यक्ति को मांगने से भी पहले दान देना श्रेष्ठ मनुष्य का लक्षण है (कुरल, 222, 223)। गृहस्थ और तपस्वी के अंतर को कवि स्पष्ट करता है – तपस्वी स्व-बुभुक्षा नियंत्रित करता है पर गृहस्थ दान द्वारा अन्य की क्षुधा का निवारण करता है, अतः गृहस्थ की शक्ति अधिक है। जो मनुष्य दूसरों के साथ वांटकर भोजन करता है उसे दरिद्रता कभी नहीं सताती (कुरल, 225, 227)। वल्लुवर ने सामाजिक मर्यादा को स्पष्ट किया है – भिक्षावृत्ति नीच कर्म है पर बचत के लोभ से अतिथि के विना अकेले ही भोजन कर लेना उससे भी निम्न है (कुरल, 229)। मृत्यु से प्राप्त यंत्रणा सबसे भयंकर है, पर याचक को दान देने में असमर्थ व्यक्ति के लिए वह यंत्रणा भी मधुर हो जाती है (कुरल, 230)।

कृतज्ञता

अपने प्रति किए गए उपकार के लिए कृतज्ञ होना एक श्रेष्ठ मानवीय गुण है। जो सहायता वदले में कुछ प्राप्त करने की भावना से मुक्त होती है उसका मूल्य पृथ्वी और स्वर्ग के उपहार भी नहीं चुका सकते। आवश्यकता के समय दी गई 'क्षुद्र' सहायता भी सम्पूर्ण धरती से बढ़कर होती है। 'सेय्‌नन्द्रिअरिदल्' अध्याय के अन्तर्गत वल्लुवर

ने उपकार के लिए कृतज्ञता की भावना को आधार बनाकर प्रतिपादित किया है कि उपकार की मात्रा राई के समान ही क्यों न हो, विद्वान् मनुष्य की दृष्टि में वह ताड़ वृक्ष के समान है (कुरल, 104) अतः कृतज्ञता उपकार की मात्रा पर नहीं, उपकृत व्यक्ति की गुण-गरिमा पर निर्भर है। निष्कलंक चरित्र व्यक्ति द्वारा प्रदत्त सहायता को विस्मृत मत करो (कुरल, 105, 106)।

श्रेष्ठ व्यक्ति आपत्ति में काम आने वाले मित्रों को सातों जन्मों में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं। उपकार को भुला देना नीच वृत्ति है, अन्य सभी प्रकार के पाप-कर्मों से मुक्ति सम्भव है पर कृतघ्न के लिए उद्धार का कोई मार्ग नहीं (कुरल, 107, 110)।

क्षमाभाव

क्षमा करने की शक्ति मानव-समाज में सद्भाव एवं मैत्री-भाव को विकसित करती है। धरती इस बात का प्रमाण है कि वह अपने खोदने वालों को भी धारण करती है, इसी भांति निन्दा करने वाले के कटु वचन सहन कर लेना महान् धर्म है (कुरल, 151)। किसी व्यक्ति द्वारा पहुंचाई गई हानि को क्षमा कर देना उचित है, पर उसके इस कार्य को भुला देना महानता है। श्रेष्ठ मानवीय आचरण के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता है (कुरल, 152, 154)। विद्वत्-समाज में बुराई का बदला बुराई से लेने वालों का आदर नहीं होता, पर शत्रु को क्षमा कर देने वाला स्वर्ण-तुल्य महत्व प्राप्त करता है (कुरल, 155)। शत्रु को दण्ड देने से प्राप्त आनन्द क्षणिक है, जबकि क्षमा से प्राप्त आनन्द चिरकाल तक स्थायी है। अपने प्रति अन्याय करने वाले व्यक्ति से दुःखित होकर बदला लेने में धर्महीन कार्य करना उचित नहीं (कुरल, 156, 157)। यदि कोई तुम पर अहंकार के कारण अत्याचार करे तो उसे क्षमा भाव से जीतना चाहिए। व्रत, तप इत्यादि से भी अधिक महत्वपूर्ण है - अपमानसूचक शब्दों को धैर्यपूर्वक सहन करके क्षमा कर देना (कुरल 158, 160)। अतः स्पष्ट है कि वल्लुवर के अनुसार सामाजिक शांति और पारस्परिक स्नेह के लिए क्षमा-भाव का विशेष महत्व है, दूसरे को दण्डित करने का आनन्द क्षणिक सन्तुष्टि मात्र का आनन्द है, क्षमा कर देने वाला व्यक्ति अपनी मानसिक शक्ति और हृदय की विशालता द्वारा समाज में स्थायी सम्मान प्राप्त करता है।



अर्थ(पोरुल्) - सामाजिक जीवन के विविध पक्ष

ஊறொரால் உற்றபின் ஒல்காமை இவ்விரண்டின்
ஆறென்பர் ஆய்ந்தவர் கோள்.

ऊरोराल् उट्रपिन् ओलहामै इवरिवण्डिन्
आरेन्बर् आयन्दवर कोल् । (कुरल, 662)

निष्फल हो जाने वाले कर्म को न करना, कर्म के विफल हो जाने पर अविचलित रहना - ये दोनों नीतिज्ञ के लक्षण हैं ।

எப்பொருள் யார்யார்வாய்க் கேட்பினும்
அப்பொருள் மெய்ப்பொருள் காண்ப தறிவு.

एप्पोरुल् यार्यार् वायकेटपिनुम् अप्पोरुल्
मेय्प्पोरुल् काण्पदरिवु । (कुरल, 423)

कहीं, से किसी से, जो कुछ भी ज्ञात हो उस कथन के अंतर्निहित अर्थ को जान लेना ही बुद्धिमत्ता है ।

पोरुल्-अर्थ विषयक चिंतनः मानव के विकास की प्रक्रिया, शिक्षा का महत्व, ज्ञान का सामाजिक धरातल, विद्वत्-सभा की विधि, सामाजिक सम्बन्धों के विविध रूप-सज्जन की मैत्री, कुसंग का त्याग, बन्धुवर्ग और उनका सहयोग ; कर्म की विधि-शक्ति, काल और स्थल का बोध ; सामाजिक जीवन का दुर्बल पक्षः अहंकार, मूढ़ता, नीचता; सामाजिक संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न दोषः प्रयोजनविहीन सम्पत्ति, दरिद्रता, याचना; प्रशासन अथवा अधिकारी-वर्ग विषयक विवेचनः राजा (नेता) के संदर्भः मित्रता, सैन्य, कोष, दूत आदि ।

3

अर्थ (पोरुल्) - सामाजिक जीवन के विविध-पक्ष

पोरुल्-अर्थ विषयक चिन्तन

तिरुक्कुरल का 'पोरुल्' खण्ड 70 अध्यायों में बंटा है। वल्लुवर ने 'अर्थ' का विस्तृत अर्थ ग्रहण किया है। इसके अन्तर्गत राज्यसत्ता के विभिन्न उपकरण यथा राजा, मैत्री, दूत, सैन्य, खाद्य पर विचार करने के अतिरिक्त सामाजिक-जीवन के लिए आवश्यक नीति का भी विधान किया गया है। राज्य का उद्देश्य है - लोकसंग्रह। यह दो रूपों में सम्भव है - राज्य के द्वारा, प्रजा के द्वारा। तिरुवल्लुवर के काव्य का लक्ष्य 'मानव' है — उच्च कोटि के सज्जन, सदाचारी, धर्म के मार्ग पर दृढ़, समाज-कल्याण की भावना एवं प्रेरणा से ओत-प्रोत 'मानव'। इस प्रकार जो नियम राजा, अमात्य, अधिकारी-वर्ग आदि के लिए हैं, वही नियम न्यूनाधिक रूप में समाज के प्रत्येक मनुष्य के लिए हैं।

केवल अधिकारी वर्ग के लोगों के विशिष्ट गुण-सम्पन्न होने से समाज का स्तर ऊंचा नहीं होता, समाज का विकास इसके प्रत्येक मनुष्य के स्तर पर निर्भर करता है। इसके लिए हमें मानव के विकास की प्रक्रिया पर विचार करना होगा। जन्म के उपरान्त परिवार में माता-पिता की स्नेह-छाया में शनैः-शनैः विकास करता हुआ बालक वय-प्राप्ति तक शिक्षा ग्रहण करता हुआ, शारीरिक, मानसिक गुणों का विकास करता है। विकास की प्रक्रिया में एक स्थिति सामाजिक सम्बन्धों की आती है। संगी-साथियों का चुनाव, सामाजिक सम्बन्धों के मीठे-कड़ुवे अनुभव और अनुशासित जीवन के लिए आवश्यक गुणों यथा शिष्ट-आचरण, लज्जाशीलता इत्यादि से उसका परिचय होता है। सामाजिक एवं व्यक्तिगत कर्म करते हुए वह कर्म, शक्ति, समय, स्थल आदि के अतिरिक्त कर्म की रीति से अवगत होता है। समाज विकसनशील है अतः उसमें परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता भी निरन्तर बनी रहती है। अनेकानेक प्रयासों के उपरान्त भी समाज में

त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है। मूढ़ता, अहंकार, दरिद्रता और उसके फलस्वरूप याचना आदि सामजिक दोष इसी कोटि के हैं। इन्हें सामाजिक जीवन की रूपरेखा से अलग कर पाना व्यावहारिक रूप में कभी सम्भव नहीं हो पाता। इस दृष्टि से तिरुक्कुरल के अर्थ-खण्ड (पोरुल्) के सामाजिक जीवन को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न उपखण्डों में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) मानव के विकास की प्रक्रिया
(आ) सामाजिक सम्बन्धों के विविध रूप
(इ) कर्म की विधि
(ई) सामाजिक जीवन का दुर्बल पक्ष

मानव के विकास की प्रक्रिया

माता-पिता के प्रेम और दुलार में विकास प्राप्त करता हुआ बालक समाज में अपनी प्रथम स्थिति से अवगत होता है। शिक्षा की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। मानव की आन्तरिक मूलभूल शक्तियों का विकास और उनका ज्ञान ही शिक्षा है। शिक्षा की प्रबल आवश्यकता को स्वीकार करते हुए वल्लुवर कहते हैं - 'अंक' और 'अक्षर' प्राणिमात्र के नेत्र कहलाते हैं। जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की है वे ही नेत्रयुक्त हैं, अशिक्षित के नेत्र तो मुख पर दो घाव मात्र हैं। इसलिए आवश्यक विषयों का निर्दोषपूर्ण अध्ययन करना चाहिए तदनन्तर उनके अनुसार व्यवहार करने में स्थिर रहना चाहिए। शिक्षा पृथ्वी के कुएं के समान है, कुआं जितना गहरा खुदेगा, उतना ही अधिक जल निकलेगा; व्यक्ति जितनी अधिक शिक्षा प्राप्त करेगा उतनी ही तीव्र उसकी बुद्धि बनेगी। इस प्रकार के विद्वान् का मिलन आनन्दप्रद है एवं संसार के लिए भी आनन्द का स्रोत है, फलतः बुद्धिमान शिक्षा का अधिकाधिक उपार्जन करने की इच्छा करते हैं। यह एक अनश्वर, महान् सम्पति है। इस प्रकार शिक्षा का महत्व प्रतिपादित कर मानव के विकास की प्रक्रिया में उसकी आवश्यकता कवि ने सिद्ध की है, पर इस विषय को सकारात्मक रूप में उपस्थित करने के उपरान्त नकारात्मक रूप को भी ग्रहण किया। यदि शिक्षा इतनी महत्वपूर्ण है और सामाजिक जीवन के लिए अत्यावश्यक है तो अशिक्षा का उल्लेख कर शिक्षा के अभाव से उत्पन्न दोषों का वर्णन भी कवि-कर्म के अन्तर्गत आ गया।

जुए के नियमों को समझे बिना पांसे खेलना पराजय की ओर कदम है; तत्व-युक्त ग्रंथों के अध्ययन के बिना विद्वत्-सभा में प्रवेश करना इससे भिन्न नहीं। अशिक्षितों की तुलना में विशद् ज्ञान-ग्रंथों में निष्णात व्यक्ति ठीक उसी प्रकार है जैसे

पशुओं की तुलना में मानव । उरोज रहित नारी की प्रेम करने की अभिलाषा और विद्वत्-सभा में अशिक्षित के भाषण करने की अभिलाषा एक समान है । यद्यपि अशिक्षित भी जीवित कहलाते हैं पर वह निष्प्रयोजन ऊसर भूमि के समान हैं । श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर भी अशिक्षित का सम्मान नहीं और निम्नकुल में जन्म लेकर भी शिक्षित सम्माननीय है । 'सूक्ष्म, श्रेष्ठ एवं तीव्र बुद्धि से रहित व्यक्ति का रूप-लावण्य शुभ्र मिट्टी से निर्मित गुड़िया के सुन्दर रूप के सदृश ही है ।' शिक्षित के सम्मुख मौन धारण किये रहें तो अशिक्षित भी बड़े सभ्य माने जायेंगे ।

कथन के श्रवण का महत्व अधिक है । श्रवण के माध्यम से अशिक्षित व्यक्ति भी ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है । ग्रंथ-ज्ञान और सज्जनों की आत्मानुभूति से उत्पन्न ज्ञान में एक निश्चित् अन्तर है । विद्वज्जनों के कथन ग्रंथ-ज्ञान को विकास प्रदान करते हैं और व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन का वास्तविक रूप दर्शाते हैं । जिह्वा का स्वाद निम्न है, विद्वानों के सरस वचन सुनने का स्वाद अनुपम है । सूक्ष्म श्रवण से वंचित व्यक्ति नम्रभाषी नहीं हो सकता । सच्चरित्र के कथन फिसलन पर चलते समय आधार दण्ड के समान सहायक होते हैं । विद्वानों के कथन में इतना रस है कि उसे सुनते हुए व्यक्ति खाना-पीना तक विस्मृत कर बैठता है । अच्छी बात प्रत्येक की सुननी चाहिए क्योंकि अवसर आने पर वह विशिष्ट गौरव का कारण बनती है । श्रवण से प्राप्त ज्ञान की सम्पत्ति सभी सम्पत्तियों से श्रेष्ठ है । इन कथनों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की बात वल्लुवर ने 'अरिवुडैमै' अर्थात् 'बुद्धिमत्ता' अध्याय में कही है – कोई विषय चाहे किसी से सुनें, उसमें निहित सत्य को देखना ही बुद्धिमत्ता है ।

शिक्षा की प्राप्ति, अशिक्षा का त्याग एवं श्रवण से प्राप्त ज्ञान के उपरान्त ही व्यक्ति बुद्धि-सम्पन्न होता है । इस स्थिति तक आते-आते सामाजिक जीवन में वह प्रवेश कर चुका है । वल्लुवर ने इस स्थल में बुद्धिमत्ता की व्याख्या की है । मन का नियंत्रण इस सन्दर्भ में प्रबल आवश्यकता है । सभी इच्छित स्थानों पर मन को जाने से रोक कर, अशुभ से हटा कर, शुभ मार्ग की ओर प्रवृत्त करना बुद्धिमत्ता है । बुद्धि, विध्वंस में रक्षा करने का साधन और शत्रुओं से भी नष्ट न होने वाला सुदृढ़ दुर्ग है । इस स्थल पर वल्लुवर व्यावहारिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं - जैसा व्यवहार लोक में हो, उसी प्रकार का व्यवहार करना बुद्धिमत्ता है । अपने विचारों को सरल रूप में स्पष्ट करना, दूसरे के गम्भीर तत्त्वों के समझने का प्रयास करना, लोक को मित्र बनाना, मित्र के सम्मुख और पीछे सद्भाव बनाए रखना, बुद्धिमत्ता के साधारण परिणाम हैं । इस

प्रकार के व्यक्ति समर्थ एवं दूरदर्शी होते हैं। बुद्धिमान के पास कुछ भी न हो तो भी वह सर्वसम्पन्न है, बुद्धिहीन सर्वसम्पन्न होकर भी कंगाल है।

'ज्ञान' का सामाजिक धरातल

ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त अन्य गुणों के विकास पर दृष्टि डालनी चाहिए। वल्लुवर ज्ञान के ऐकान्तिक रूप की स्वीकृति नहीं देते। उनके लिये ज्ञान का विस्तार, उसका सामाजिक वितरण आवश्यक है। स्वयं अध्ययन किए हुए ग्रंथों को दूसरों को समझाने की शक्ति से रहित व्यक्ति गंधहीन पुष्प-गुच्छ के समान होते हैं। थोड़े से निर्दोष शब्दों में विचारों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ व्यक्ति ही सफल है। बोल वह जो सुनने वाले को वशीभूत कर ले और न सुनने वालों में भी सुनने की इच्छा उत्पन्न कर दे। विचारों को संवार कर कथन करने वाले मधुर-भाषी के आदेश शीघ्र ही सारा संसार सुनेगा। वाक्पटुता विशिष्ट गुण है, 'शब्द' विकास और विनाश दोनों का कारण है, अतः शब्द की शक्ति को समझकर उसका प्रयोग करना चाहिए। स्वयं प्रिय कथन करना, दूसरों के कथनों के प्रयोजन को हृदयंगम करना निर्मल-स्वभाव वाले महान् व्यक्तियों का सिद्धान्त है। वाक्पटु, निरालस्य और निर्भीक व्यक्ति से कोई विरोधी नहीं जीत सकता।

शिक्षित, ज्ञानी, 'शब्द' पर नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति के लिए भी सभा एक परीक्षा होती है। सभा को समझना, सभा के अनुकूल व्यवहार करना, सामाजिक जीवन में सदा महत्वपूर्ण रहा है। वल्लुवर इस विषय में कुछ आधारभूत संकेतों के माध्यम से विद्वज्जनों का मार्ग-दर्शन करने का प्रयास करते हैं। श्रेष्ठ विद्वानों की सभा में प्रभावोत्पादन में समर्थ व्यक्ति मूर्खों की सभा में भूलकर भी न बोले। स्वजन से रहित सभा में किसी विषय पर बोलना स्वीकार न करो अन्यथा वह अशुद्ध आंगन में गिराए गए अमृत के समान होगा। शब्दों के क्रम की शक्ति का स्पष्ट ज्ञान रखने वाले सभा को समझकर, ध्यान से शब्दों का व्यवहार करें। ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति को पहले श्रोताओं के श्रवण की अभिलाषा को स्पष्टतः समझना चाहिए और फिर उसी के अनुसार शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। जो व्यक्ति सभा को समझे बिना कुछ कथन करते हैं वे शब्दों की रीति से अनभिज्ञ होते हैं। अध्ययन-सम्पन्न व्यक्ति की विद्या विशुद्ध रूप से शब्दों के भाव को समझने वाले विद्वान् के सम्मुख ही प्रकाशित होती है, इसलिए श्रेष्ठ बुद्धि वाले व्यक्ति के सम्मुख बुद्धिमान जैसा ही सम्भाषण करो, और बुद्धिहीन के समक्ष सफेद चूने के समान वैसे ही बन जाओ। इसी प्रकार श्रेष्ठ ज्ञानी के समक्ष बढ़-चढ़कर सम्भाषण न करने का संयम मनुष्य के प्रयोजन-सम्पन्न विषयों में प्रधान है। सभा को समझ कर

उसके अनुकूल आचरण करना विद्वान् का लक्षण है पर ज्ञान का विस्तार अभिव्यक्ति से होता है; विभिन्न ग्रंथों के अध्ययन के उपरान्त भी विद्वत्-सभा से भयभीत होने वाले व्यक्ति अनपढ़ों से निम्न हैं। निडर होकर सभा का सामना करने का परामर्श देते हुए वल्लुवर कहते हैं कि सभा में भयभीत होने वाले के हाथ में सद्ग्रंथ वैसे ही व्यर्थ हैं जैसे संग्राम-स्थल में शत्रु से डरने वाले के हाथ में तलवार । जो विद्वत्-सभा को अपने भाषण से प्रभावित न कर सके उसका अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन निष्प्रयोजन ही होता है । ऐसा व्यक्ति सप्राण होकर भी निष्प्राण-सदृश है । सभा के सम्मुख निर्भीक भाषण देना संग्राम-क्षेत्र में प्राण देने से भी कठिन है, इसीलिए वल्लुवर का कथन है – शत्रुओं के संग्राम में समाप्त होने वाले तो अनेक होंगे परन्तु विद्वत्-सभा में निर्भीक रहने वाले विरले ही होंगे । इस कथन को पुष्ट करने वाला एक अन्य कथन है – निडर वीर के अतिरिक्त अन्य का खड्ग से क्या सम्बन्ध ? विद्वत्-सभा में डरने वाले का सद्ग्रंथों से क्या सम्बन्ध ? इसलिए विद्वानों की सभा में जाने से पूर्व अपने से श्रेष्ठ विद्वानों से अन्य विषयों का अध्ययन कर लेना चाहिए एवं सभा में निर्भीक रूप से प्रत्युत्तर देने के लिए नियमपूर्वक तर्क-शास्त्र का सतर्क अध्ययन कर लेना आवश्यक है । शब्दों के क्रम की शक्ति का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर, सभा की रीति को हृदयंगम कर, सभा के समक्ष जाने वाला व्यक्ति विद्वानों के मध्य अपने मुख में अनुचित शब्द नहीं आने देगा । अपने अध्ययन को विद्वानों के समक्ष प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्त करने में सक्षम व्यक्ति ही विद्वानों में विद्वान् कहलायेगा ।

सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न रूप

राज्य के सन्दर्भ में राजा के लिये श्रेष्ठ व्यक्तियों के साहचर्य को विशेष महत्व प्रदान किया गया है । यह कथन समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये भी सत्य है, अतः सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न रूपों में इसी प्रकार के अनेक कथनों का उल्लेख एवं विवेचन किया जायेगा । कुछ कथन मन्त्री अथवा राज्य के किसी अन्य अधिकारी के गुण, कर्म इत्यादि के सन्दर्भ में आए हैं पर प्रत्येक सामाजिक प्राणी उनका उपयोग कर सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है; इसी कारण उनको भी यहां समाहित कर लिया गया है । एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि तिरुवल्लुवर ने कहीं भी यह नहीं कहा कि यह नियम अथवा संदेश केवल राजा अथवा अमात्य इत्यादि के लिये हैं। उनके कथनों के अध्ययन से यह ध्वनि अवश्य मिलती है कि ये प्रत्येक व्यक्ति के लिये ग्राह्य, सर्वयुगीन सिद्धांत हैं ।

श्रेष्ठ व्यक्तियों से अभिप्राय 'धर्मज्ञ' और 'ज्ञानी' व्यक्तियों से है। ऐसे सज्जनों की मैत्री उनकी महानता को समझ कर यथानुसार प्राप्त करनी चाहिए। सिर पर आई विपत्ति को दूर कर, भविष्य में सम्भव विपत्ति से, पहले से ही रक्षा करने में योग्य व्यक्ति का सम्मान कर उससे साहचर्य स्थापित करो। श्रेष्ठ व्यक्ति का सम्मान करके उन्हें अपना बना लेना दुर्लभ पदार्थों में दुर्लभ है। पर जिसे योग्य एवं श्रेष्ठ व्यक्ति के साहचर्य की शक्ति प्राप्त होगी उसे शत्रु किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचा सकते। मूलधन के बिना लाभ अप्राप्य होता है; सबल सहायक के अभाव में स्थायित्व अप्राप्त होता है। सज्जनों की मैत्री का त्याग अनेक व्यक्तियों की शत्रुता से दस-गुना हानिप्रद है।

सज्जन की मैत्री आनन्द का कारण है तो कुसंग दुःख का आधार है। इसलिए सज्जनों की मैत्री के तुरन्त उपरान्त वल्लुवर 'कुसंग का त्याग' (शिट्रिनम् शेरामै) के अन्तर्गत कुसंग के त्याग का परामर्श देते हैं। भूमि के गुण से जल में परिवर्तन आ जाता है, मनुष्य भी संग के गुण के अनुकूल बुद्धि प्राप्त करता है। मन एवं कर्म दोनों की शुद्धता, संग की शुद्धता पर निर्भर करती है। मन की पवित्रता मानव का वैभव है, संग की विशुद्धता सकल सुयश प्रदान करती है। मन पूर्णतः पवित्र होने पर भी बुद्धिमान के लिये संग की पवित्रता विशिष्ट सहायक सिद्ध होती है। मन की पवित्रता से स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है और वह संग की पवित्रता से श्रेष्ठतर बनता है। मनुष्य की बुद्धि, जो उसके मन में उपस्थित सी प्रतीत होती है, वस्तुतः उसके संग का ही परिणाम है। वल्लुवर का मत है कि अच्छे संग से बढ़कर कोई सहायक नहीं और कुसंग से बढ़कर अहितकर कोई शत्रु भी नहीं। इसलिए श्रेष्ठता कुसंग से भयभीत होती है, नीचता ही उसे बन्धु मानकर उससे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेती है।

सामाजिक जीवन में विश्वासपात्र संगी-साथी सहयोगी का चुनाव एक कठिन कार्य है। इस प्रकार का सहयोगी न केवल दैनिक जीवन के सुचारु संचालन के लिये आवश्यक है, अपितु विशिष्ट अवसरों पर महत्वपूर्ण कार्य-सम्पादन में भी उसका योगदान होता है। तिरुवल्लुवर कुलीन, निर्दोष, और अपयश से लज्जित होने वाले मनुष्य को विश्वासपात्र बनाने का परामर्श देते हैं। श्रेष्ठता और नीचता को परखने की कसौटी मनुष्य के कर्म हैं। किस कार्य के लिए कौन मनुष्य श्रेष्ठ है इसका निर्णय करते समय उसकी धर्म, अर्थ, काम विषयक जीवन-दृष्टि एवं प्राण-भय उत्पन्न होने पर उसकी प्रतिक्रिया का विचार करना चाहिए। गुणों एवं दोषों का विवेचन कर, मनुष्य का विश्लेषण कर, विश्वासपात्र व्यक्ति का चुनाव करना चाहिए। विश्वासपात्र व्यक्ति के

चुनाव में वल्लुवर का स्पष्ट मत है कि पूर्वाग्रह से युक्त होकर इसमें निर्णय न किया जाये। प्रेमवश उचित ज्ञान से रहित व्यक्ति का चुनाव तथा विश्लेषण किये बिना विश्वासपात्र बनाना, दोनों ही स्थितियां कष्टप्रद होंगी। बन्धु-बान्धवहीन को विश्वासपात्र नहीं बनाना चाहिए क्योंकि वे ममताशून्य होने के कारण निन्दा से लज्जित नहीं होते।

राज्य-संचालन के लिए राज्य के अधिकारियों का चुनाव और फिर क्षमता के अनुसार कर्म का वितरण एक महत्वपूर्ण स्थिति है। इसी प्रकार जीवन में विभिन्न स्तरों पर अनेकानेक कार्यों की पूर्ति के लिए सत्पात्र की खोज और खोज के उपरान्त पात्रानुकूल कर्म का वितरण भी पर्याप्त कठिन कार्य है। वल्लुवर ने इसके लिए कुछ आधारभूत संकेत दिए हैं जिनके माध्यम से इस स्थिति में उचित निर्णय लेना सम्भव हो सकता है।

स्नेह, बुद्धि, निश्चलता एवं निर्लोभिता – इन चार गुणों से पूर्णतः युक्त व्यक्तियों में ही निष्पक्ष निर्णय की क्षमता होती है। परीक्षा चाहे किसी प्रकार भी की जाये मनुष्य का स्वभाव उसके विशिष्ट दायित्व के कारण परिवर्तित हो सकता है। अतः वल्लुवर का मत है कि कर्म का अधिकारी वही हो सकता है जो शुभाशुभ की सम्यक् समीक्षा करके शुभकर्म में प्रवृत्त होने की क्षमता से युक्त हो। कोई काम सौंपने से पहले देख लेना चाहिए कि अधिकारी व्यक्ति बुद्धि से काम लेगा तथा बाधाओं को सहकर भी कर्म को पूर्ण करेगा। कर्म, कर्त्ता और अनुकूल समय - इन तीनों का विचार करके ही किसी कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक मधुर सम्बन्ध एवं सद्भाव-युक्त सहायता का भाव है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि बन्धु-बान्धव से सद्भाव एवं सौहार्द बना कर रखा जाये। सुख-दुःख का चक्र विचित्र है, किसी भी व्यक्ति को सदा सुख अथवा सदा दुःख की प्राप्ति नहीं होती। अतः दुःख के क्षणों में बन्धु-बान्धव सुख को द्विगुणित करते हैं तो दुःख के अवसर पर उनकी सहानुभूति दुःख सहन करने की क्षमता प्रदान करती है।

वल्लुवर का कथन है - अटूट प्रेम से युक्त बन्धुवर्ग जिसे प्राप्त है वह अनेक प्रकार से निरन्तर विकासोन्मुख सौभाग्य प्राप्त करेगा। यह बन्धुओं का ही गुण है कि किसी की दरिद्रता में भी उसे छोड़ें नहीं और पुराने सम्बन्ध बनाये रखें। धनी का धन-प्राप्ति का प्रयोजन बन्धुओं को साथ मिलाये रहने के सद्व्यवहार में है। वल्लुवर का विचार है कि दानी, मधुर वक्ता, अक्रोधी सदा निकट सम्बन्धियों से घिरा रहेगा। जो मनुष्य

वन्धुओं के साथ मिलनसार नहीं है उसका जीवन तट-रहित विस्तीर्ण जलाशय के समान है। कौआ प्राप्त वस्तु छिपाता नहीं अपितु पुकार कर अन्य वन्धुओं को बुलाता है, श्रीवृद्धि ऐसे ही स्वभाव वालों को सिद्ध होती है। यदि किसी कारण बन्धु स्वयं सम्बन्धविच्छेद कर बैठे हों तो उस विच्छेद के कारण को दूर करने से पुनः मिलना सम्भव हो जाता है।

सद्व्यवहार सामाजिक जीवन के लिये अनिवार्य आवश्यकता है इसी कारण शिष्ट आचरण सज्जन व्यक्तियों का गुण माना गया है। विनम्र वार्तालाप से शिष्ट आचरण नामक सदाचार की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। निन्दा हास्य में भी नहीं रुचती, व्यवहार-कुशल व्यक्ति शत्रुता में भी शिष्टता को बनाये रखता है। इस लोक का आधार शिष्ट जन हैं, अन्यथा यह मिट्टी में मिल जाता। मानवीय शिष्टता से रहित व्यक्ति, वल्लुवर के मतानुसार, आरी के समान तीक्ष्ण बुद्धियुक्त होने पर भी वृक्ष के समान जड़ होते हैं। शरीर एवं रूप की समानता के आधार पर कोई किसी का बन्धु नहीं बनता, प्रत्युत शिष्ट आचरण पर आधृत मैत्री ही वास्तविक है। अशिष्ट व्यक्ति को प्राप्त अतुल सम्पति व्यर्थ ही रहती है। कलश-दोष से स्वच्छ दूध भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह सम्पत्ति भी दोष-प्रद हो जाती है। लोक में न्याययुक्त, कृतज्ञ, हितचिन्तक के शिष्टाचार का सम्मान होता है।

कर्म की विधि - शक्ति, काल और स्थल का बोध

कर्म का प्रश्न भारतीय विचारधारा का सर्वाधिक चर्चित प्रश्न है। कर्म क्या हो, कैसा हो, उसके लिए किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए- इत्यादि प्रश्न प्रत्येक मनुष्य के समक्ष आते हैं। अतः कर्म, कर्म की विधि, उसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन सामाजिक जीवन में एक अनिवार्य आवश्यकता है। वल्लुवर ने 'बोधयुक्त कर्म' (तेरिन्दु सेयल्वहै); 'शक्ति का बोध' (वलियरिदल्) ; 'काल का बोध' (कालम् अरिदल्); 'स्थल का बोध' (इडन् अरिदल्) शीर्षकों के अन्तर्गत कर्म एवं उसके सम्पादन से सम्बद्ध सम्भव प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया है। इन्हीं अंशों का विश्लेषण यदि युद्ध के सन्दर्भ में किया जाये तो उसके लिए भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं। युद्ध 'राजा' के सन्दर्भ में और कर्म समस्त 'मानव जाति' के सन्दर्भ में लें, तो ये अंश दोनों स्थितियों को अपने में समाहित किये हुए हैं। वल्लुवर युद्ध के विषय में कहते हैं - विभिन्न परिस्थितियों का विचार किये बिना आक्रमण करना शत्रु को सुदृढ़ भूमि प्रदान करने का एक मार्ग है। यहां युद्ध का उल्लेख कर्म की अपेक्षा कम हुआ है। वल्लुवर ने कर्म दो प्रकार के माने

हैं - करणीय एवं अकरणीय। करणीय कर्म न करने से नाश होगा और अकरणीय कर्म करने से नाश होगा। कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व उसके समस्त पक्षों का सम्यक् विश्लेषण अनिवार्य है क्योंकि प्रवृत्त होने के पश्चात् सोच-विचार करना मूढ़ता है। कर्म के समस्त पक्षों का विवेचन कर परिचित बन्धुओं के साथ विचार-विमर्श कर उसमें प्रवृत्त होने वाले व्यक्तियों के लिये कुछ भी असम्भव नहीं। कर्म का साधन भी उचित होना चाहिए अन्यथा अनेक व्यक्तियों की सहायता मिलने पर भी कर्म में सफलता प्राप्त नहीं होगी। जिस व्यक्ति पर कर्म का प्रभाव होता है उसके स्वभाव को समझ कर उसके अनुकूल कर्म करना चाहिए। लोक-जीवन में कर्म लोकानुकूल ही होना चाहिए, जो कर्म लोक के प्रतिकूल है, उसे कोई स्वीकार नहीं करेगा।

कर्म करने का दूसरा पक्ष है शक्ति, समय और स्थान का बोध। कर्म को जानकर, उसके लिए आवश्यक बल को समझ कर, दत्तचित हो, दृढ़ता के साथ चलने वाले के लिए कुछ भी असम्भव नहीं। स्व-शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त किये बिना जो व्यक्ति आवेशवश किसी कर्म में प्रवृत्त होता है उसे कर्म को मध्य में छोड़ना पड़ता है और अवनति की प्राप्ति होती है; इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य इच्छित कर्म, अपनी शक्ति, विरोधी की शक्ति और सहायकों की शक्ति का विश्लेषण करने के उपरान्त ही किसी कर्म में प्रवृत्त हो।

'दान, सत्कर्म इत्यादि में भी सीमा का ज्ञान होना चाहिए। वल्लुवर मर्यादित कर्म का सन्देश देते हैं, चाहे यह कर्म कितना ही महत्वपूर्ण अथवा श्रेष्ठ हो। अपनी सम्पति की सीमा को न विचार कर बड़ा दानी बनने से भी हानि होगी। इसलिए दान भी उचित मात्रा में, अपनी सीमा को समझ कर करना चाहिए। अपनी सम्पति की सीमा को समझे बिना जीवन व्यतीत करने वाले का जीवन सम्पन्न सा प्रतीत होकर भी सर्वरिक्त हो विनाश को प्राप्त होता है। वृक्ष की चोटी की शाखा पर पहुंच कर आवेश में कोई उससे भी आगे बढ़े तो वह आवेश प्राणघातक भी हो सकता है।

अपनी सीमा एवं शक्ति का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के उपरान्त काल अथवा अवसर का चयन भी महत्वपूर्ण कदम है। आवश्यक साधनों के साथ काल को समझ कर कर्म करने वाले के लिए कुछ भी असम्भव नहीं होता। इस प्रकार से कर्म करने वाले सम्पूर्ण संसार को वशीभूत कर सकते हैं। युद्ध एवं शान्ति, दोनों कालों में वल्लुवर उचित अवसर की प्रतीक्षा करने का परामर्श देते हैं। सुअवसर प्राप्त हो तो असम्भव कार्य भी उस समय कर डालो। अवसर प्रतिकूल हो तो विरोधी के समक्ष विनीत हो

जाओ क्योंकि अवसर का प्रबल महत्व है। दिन के समय उलूक पर उससे दुर्बल कौआ विजय प्राप्त कर लेता है ; शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से युक्त व्यक्ति तदनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। उत्साही व्यक्ति यदि अवसर की आवश्यकता समझ कर पीछे हटता है तो यह भेड़ का शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व अपने पैरों को पीछे हटाने के समान होता है। शत्रु के दोष देख बुद्धिमान तुरन्त वहीं क्रोध को व्यक्त नहीं करते, उस ज्वाला को उचित अवसर के लिए मन में संजोये रखते हैं। इसलिए प्रतीक्षा के समय सारस के समान शान्त रहो, अवसर आने पर उसके समान आक्रमण कर कर्म को पूर्ण करो।

कर्म की विधि में स्थान का चुनाव भी महत्वपूर्ण है। स्थल का चुनाव युद्ध में प्रमुख निर्णय है। पूर्णरूप से विचार करके, उसी स्थान से कर्म में प्रवृत्त होने पर निर्भयता के अतिरिक्त अन्य किसी की सहायता आवश्यक नहीं। अनुकूल स्थल को समझ कर दृढ़ता से कर्म में प्रवृत्त होने वाले मनुष्य पर विजय प्राप्त करने का विचार रखने वाले अपनी कामनापूर्ति में असफल होंगे। अल्प सैन्य-युक्त यदि अपने लिए उपयुक्त स्थल पर पहुंच कर डट जाये तो बृहद्-सैन्य युक्त का उत्साह नष्ट हो जाएगा। युद्ध में स्थल का चुनाव युद्ध का निर्णायक प्रश्न होता है। गहरे जल में 'मगर' अन्य जीवों पर विजय प्राप्त करता है परन्तु जल के बाहर उस पर अन्य जीव विजयी होते हैं। बृहद् चक्रों से युक्त बड़े रथ समुद्र पर नहीं चल सकते, इसी प्रकार समुद्रगामी जलयान भी पृथ्वी पर नहीं चल सकते। भालों से युक्त वीरों को छेदने वाले लम्बे दांतों से युक्त निडर हाथी यदि पांव फंसाने वाले कीचड़ में फंस जाये तो गीदड़ भी उसे मार डालेंगे। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि कार्य-पूर्ति (युद्ध) के लिए उचित स्थल का निर्णय किये बिना किसी कर्म (युद्ध) में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि दुर्ग तथा अन्य विशिष्ट साधनों के अभाव से युक्त व्यक्ति पर भी उसके ही क्षेत्र पर आक्रमण करना दुष्कर होता है। इस प्रकार वल्लुवर ने 'कर्म' के जटिल प्रश्न को विश्लेषित कर, सर्वजन-सुलभ समाधान देने का प्रयास किया है।

सामाजिक जीवन का दुर्बल पक्ष

वल्लुवर ने अपने काव्य में कुछ ऐसी स्थितियों का वर्णन किया है जो समाज के सम्यक् विकास में बाधा का कारण हैं। सुख और दुःख क्रम से आते हैं, ठीक उसी प्रकार समाज में मानव-स्वभाव की विभिन्नता के कारण अथवा सामाजिक संगठन की दुर्बलता के कारण दुर्बल चरित्र व्यक्ति सदा से हैं। यहां वल्लुवर की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट

है - मूढ़, अहंकार-युक्त तुच्छ-बुद्धि मनुष्य एवं नीच का यहां उल्लेख हुआ है। सम्पत्ति-संग्रह, दरिद्रता, इसके फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति 'याचना' और उसकी भयंकरता का उल्लेख भी हुआ है। मानव-स्वभावगत दुर्बलता और सामाजिक संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न कठिनाइयों का अध्ययन यहां अभिप्रेत है।

मूढ़ता : मूढ़ता के लक्षणों में निर्लज्जता, लापरवाही, निर्दयता, किसी के साथ मिलाप न रखना प्रमुख हैं। मूढ़ता के परिणामस्वरूप व्यक्ति लाभप्रद को त्याग हानिप्रद को ग्रहण कर लेता है। सदाचरण के प्रतिकूल कर्म करने की अभिलाषा मूढ़ता से भी बढ़कर है। अध्ययन, मनन एवं अध्यापन के उपरान्त भी स्वयं उसके अनुकूल आचरण न करना भी मूढ़ता ही है। सदाचरण को न जानने वाला 'मूढ़' यदि किसी कर्म को प्रारम्भ करेगा तो वह अपूर्ण रह जायेगा, अन्यथा वह दण्ड का भागी होगा। मूढ़ व्यक्ति को प्राप्त अतुल सम्पत्ति से दूसरे लोग तो लाभान्वित होंगे, पर अपने लोग भूखे रहेंगे। मूढ़ के साथ मैत्री अत्यन्त मधुर होती है क्योंकि वह टूटने पर दुःख नहीं देती। मूढ़ व्यक्ति का बुद्धिमानों के मध्य प्रवेश मल-युक्त पैर को धोये बिना शय्या पर रखने के समान होता है।

अहंकार : मूढ़ता के अतिरिक्त 'अहंकार' को भी वल्लुवर ने प्रबल दोष माना है। बुद्धिहीनता ही अहंकार है अतः बुद्धिहीनता को वल्लुवर बहुत बड़ा अभाव मानते हैं क्योंकि अन्य अभाव तो अभाव नहीं हैं। यह बुद्धिहीनता क्या है ? 'हम बुद्धिमान हैं' - इस भावना से उत्पन्न विक्षिप्तता को बुद्धिहीनता कहते हैं। इस बुद्धिहीनता की कुछ अन्य स्थितियों का उल्लेख करते हुए वल्लुवर कहते हैं - अति रहस्यपूर्ण विषयों की रक्षा किये बिना, उन्हें व्यक्त कर देना ; जिस विषय का अध्ययन न हो, उस पर अपना अधिकार व्यक्त करना; स्वयं भी न जानना और समझाने पर भी न समझना प्रमुख रूप से बुद्धिहीनता का ही स्वरूप है। बुद्धिहीन को समझाना व्यर्थ है क्योंकि आप उसे समझा ही नहीं सकते, वह तो अपनी बुद्धि के ही अनुसार समझेगा। यदि मानसिक विकृतियां प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं तो मूर्ख व्यक्ति का अपनी शारीरिक नग्नता को ढकने का क्या लाभ ?

नीचता : 'कयमै' शीर्षक के अन्तर्गत नीच व्यक्तियों का वर्णन हुआ है। मूढ़ व्यक्ति अपनी मूढ़ता के कारण क्षम्य हो सकता है पर नीच मूर्ख नहीं है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण एवं अंतर्निहित दोषों के कारण नीच समाज का सर्वाधिक दुर्बल अंग

है। नीच व्यक्ति साधारण मनुष्यों जैसा ही तो होता है ! पर मन में चलने वाले कुचक्रों के कारण नीच कहलाता है।

वल्लुवर ने व्यंग्य से नीच की तुलना देवता से की है, क्योंकि नीच अपने से पतित व्यक्ति ही को देखकर स्वयं को उससे श्रेष्ठ मानकर गर्व का अनुभव करता है। किसी के सुन्दर वस्त्रों अथवा भोजन इत्यादि का दोषान्वेषण करने वाले नीच हैं। ये पिटने वाले ढोल के समान होते हैं क्योंकि स्वयं सुनी हुई गुप्त बात दूसरों को कह देते हैं। ये तो विपत्ति के समय शीघ्र बिक जाते हैं, इनका सदाचरण भय में निहित रहता है। जिनके पास इनका जबाड़ा तोड़ने वाली मुट्ठी नहीं होती, उन्हें तो यह हाथ की जूठन भी नहीं देते। बुद्धिमान संकेत समझता है, पर नीच व्यक्ति तो गन्ने के समान पेले जाने पर ही लाभप्रद सिद्ध होते हैं। नीच बुद्धिमानों से अधिक प्रसन्न रहते हैं क्योंकि हृदय को कचोटने वाली बुद्धि इनके पास नहीं होती !

सामजिक संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न दोष

प्रयोजनहीन सम्पत्तिः 'नन्द्रियल सेल्वम्' के अन्तर्गत कवि ने सम्पत्ति-संग्रह को सामाजिक दोष के रूप में देखा है। सामाजिक भेदभाव के मूल में कर्म का प्रभाव मानने पर भी कवि अनावश्यक सम्पत्ति-संग्रह को एक अशुभ प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण करता है। धन-संग्रह में मग्न, यश-इच्छा से रहित व्यक्ति पृथ्वी के लिये बोझ है। जो देता नहीं, भोगता नहीं, उसके पास यदि करोड़ों भी हैं तो व्यर्थ ही है। ऐसे मनुष्य तो विशाल सम्पत्ति के लिए व्याधि-सदृश हैं। अद्भुत सौन्दर्ययुक्त रमणी निरन्तर एकाकी रहकर अपने यौवन को व्यतीत कर वृद्धा हो जाए, यही स्थिति निर्धन को धन न देने वाले कृपण की सम्पत्ति की है। नगर के मध्य में लगा विषवृक्ष सबका अहित करता है, उसी प्रकार किसी की सहायता न करने के कारण हुए अप्रिय व्यक्ति की सम्पत्ति है। इस प्रकार के कृपण व्यक्ति की मानसिक दृष्टि सीमित हो जाती है, वह दूसरों से प्रेम करना छोड़ स्वयं को कष्ट में डालता है, धर्म-मार्ग का भी अनुसरण नहीं करता। वल्लुवर तो यह मानते हैं कि ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति का भोग दूसरे ही करेंगे। सम्पत्ति का संग्रह किया पर न तो उसका भोग किया और न ही वितरण किया तो ऐसे मनुष्य ने जीवन में प्राप्त ही क्या किया? पर कुछ लोग तो यह मानकर कि सम्पत्ति से सब कुछ सम्भव है, उसके संग्रह में ही संतुष्ट होकर एक विचित्र मादकता का अनुभव करते हैं ; तिरुवल्लुवर के अनुसार इस प्रकार के लोगों को इस जीवन के उपरान्त भी तुच्छ जन्म प्राप्त होगा।

दरिद्रता : दरिद्रता मनुष्य को कठिन धरातल पर लाकर खड़ा कर देती है। यह रोग अकेला नहीं आता; अनेक प्रकार की कठिनाइयां इसके साथ स्वयं उपस्थित हो जाती हैं। यदि यह प्रश्न किया जाये कि दरिद्रता के समान दुःखप्रद और क्या है ? तो यही कहना होगा कि दरिद्रता के समान दुःखदायी पदार्थ तो दरिद्रता ही है। दरिद्रता से इस जन्म के तथा भविष्य-जन्मों के सुख भी लुप्त हो जाते हैं। आग में तो कोई भी सो सकता है पर दरिद्रता में कोई किसी प्रकार भी आंख बंद कर सो नहीं सकता। दरिद्र के लिए तो प्रत्येक दिवस एक भयंकर आपदा के समान है। श्रेष्ठ विषय पर विशिष्ट चिन्तन के उपरान्त भी दरिद्र का कथन निष्प्रभाव ही ठहरेगा। दरिद्र व्यक्ति के प्रति माता का व्यवहार भी परिवर्तित हो जाता है। दरिद्र यदि चाहे कि योग्य वस्तुओं के अभाव में संन्यास ग्रहण कर ले तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि नमक और सूखी रोटी के अभाव में संन्यास भी कहां मिलता है ?

याचना : दरिद्रता के फलस्वरूप याचना की स्थिति उत्पन्न होती है। मुक्त-हृदय, कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के सम्मुख खड़े होकर याचना में भी एक आनन्द है और संसार में ऐसे मनुष्य क्योंकि विद्यमान हैं, इसीलिए याचना करने वाले योजना प्रवृत्ति में लीन हैं। निन्दा किये बिना दान करने वालों को देखकर याचक का हृदय आनन्द प्राप्त करता है। बिना दुःख के यदि याचित वस्तु प्राप्त हो जाये तो याचक के लिये यह आनन्द का कारण बनता है। याचक याचना तभी करे जब याचना के योग्य व्यक्ति दिखें, यदि वे छिपायें तो निन्दा के पात्र याचक नहीं, छिपाने वाले हैं। जो याचित वस्तु स्वप्न में भी नहीं छिपाते उनसे याचना करना दान देने के समान सुखप्रद होता है। याचक न होते तो यह महान् लोक कठपुतली के नृत्य से अधिक आनन्दप्रद न होता। याचना करने वालों से ही तो दानियों को यश की प्राप्ति होती है। दान न मिलने पर याचक किसी पर क्रोध न करे क्योंकि वह अपनी स्थिति से अन्य की स्थिति की भी कल्पना कर सकता है।

याचना-विषयक अंशों को पढ़कर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि तिरुवल्लुवर कर्म में प्रबल आस्था के पोषक नहीं। वल्लुवर वास्तव में याचना को हेय और त्याज्य मानते हैं, पर सामाजिक जीवन के सत्य को झुठलाया भी नहीं जा सकता। वास्तव में याचना अंतिम स्थिति है एवं यह स्थिति प्रबल दुःखप्रद है। वल्लुवर परिश्रम के महत्व की स्थापना करते हुए कहते हैं - "चाहे सूखी रोटी ही क्यों न हो, परिश्रम के स्व-अर्जित भोजन से मधुर और कुछ नहीं।" 'याचना की भयंकरता' (इरवच्चम्) शीर्षक से कवि ने यह भाव व्यक्त किया है कि यदि सृष्टि-कर्त्ता यह चाहता था कि व्यक्ति भिक्षा मांग

कर भी जीवन बनाये रखे तो उसे चाहिए कि वह भिक्षुक के समान भटक कर नाश को प्राप्त हो। अपने समस्त काव्य में वल्लुवर ने इतने कठोर वाक्य का अन्यत्र कहीं प्रयोग नहीं किया। इस संदर्भ में प्रयुक्त इस विचार का कारण भिक्षा-वृत्ति के परिणामस्वरूप मानव का सम्भावित पतन, मानसिक क्लेश और नैतिक दृष्टि से कटु अनुभव ही हैं। दरिद्रता के दुःख को याचना से दूर करने के अज्ञान से बढ़कर कोई अज्ञान नहीं। जीवन बनाये रखने के लिये कहीं स्थान न होने पर याचना न करने का सद्गुण सम्पूर्ण पृथ्वी की विशालता से भी श्रेष्ठ है। चाहे गाय के लिये जल की ही याचना क्यों न हो, जिह्वा के लिये याचना से अधिक निन्दास्पद और कुछ नहीं।

दरिद्रता में भी याचना नहीं करनी चाहिए, यह एक स्थिति है। यदि याचक याचना करे तो दान देना ही चाहिए यह दूसरी स्थिति है, 'याचना' नामक आश्रयहीन नाव 'निषेध' नामक चट्टान से टकराने पर टूट जायेगी। याचना के विचार से हृदय द्रवीभूत होता है और निषेध के विचार से प्राप्त वस्तु तो नष्ट होती ही है, हृदय विदीर्ण हो जाता है। याचक को 'नहीं' मत कहो क्योंकि 'नहीं' कहे जाने मात्र से याचक के प्राण चले जाते हैं तो वस्तु होते हुए भी छिपाकर निषेध करने वालों के प्राण कहां छिपे रहेंगे?

तिरुवल्लुवर की अर्थ-विषयक मान्यताओं के अध्ययन के उपरान्त स्पष्ट है कि उन्होंने अर्थ को शास्त्रीय, परम्परागत विस्तृत अर्थ में ग्रहण किया फलतः उनके काव्य में राज्य एवं अधिकारी-वर्ग, प्रजा एवं अनेक सम्बद्ध विषय स्वतः समाहित हो गए। युगों के उपरान्त भी उनका चिन्तन सार्थक है, आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन की तुलना में उसका महत्व असंदिग्ध है। यह 'आदर्श' का प्रतिपादन मानव-मात्र ही कल्याण-भावना से युक्त है।

प्रशासन अथवा अधिकारी-वर्ग विषयक विवेचन

मूलतः कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के कारण वल्लुवर उपज एवं जल के उभय स्रोत (वर्षा, नदी इत्यादि) का उल्लेख राज्य के अनिवार्य अंगो में करते हैं। अक्षय उपज, योग्य विद्वान् एवं क्षतिहीन धनाढ्य की आवश्यकता पर बल दिया गया है। विशाल सम्पत्ति, जल के प्रचुर स्रोत, यथानुकूल पर्वत, प्रवाह-पूर्ण नदी एवं सुदृढ़ दुर्ग राज्य के अनिवार्य अंग माने गये हैं। सैन्य, प्रजा, धन, अमात्य, मित्र एवं दुर्ग जिसके पास हों वह राजाओं में पुरुष-सिंह होता है (कुरल,381)। अनेक विरोधी संघ-सभाओं, विनाशकारी अंतःकलह तथा राजा (नेता) के लिये दुःखप्रद हत्यारे भूस्वामी से रहित

राज्य आदर्श है (कुरल, 735) । राज्य के गौण गुणों में व्याधिरहित सानन्द जीवन, प्रजा के द्वारा कर चुकाना, विनाशकाल में भी समृद्धि न रुकने देना, राजा-प्रजा की संयुक्त शक्ति एवं पारस्परिक सहयोग भावना का उल्लेख हुआ है । वे ऐसे राज्य को आदर्श मानते हैं जो इतना प्रबल हो कि दूसरों के लिये आकर्षण का केन्द्र हो परन्तु अपनी अंतःशक्ति के कारण वाह्य आक्रमणों से मुक्त हो (कुरल, 732, 734) ।

तिरुवल्लुवर ने राजा के गुणों में निर्भयता, दान, बुद्धिमत्ता, उत्साह, सतर्कता, विद्या, निर्भीक प्रकृति, मधुर भाषण, दया, धर्मनीति, एवं नीति-दृढ़ता तथा प्रजा-संरक्षण आदि का समावेश किया है (कुरल, 384, 386, 387, 388, 390) । इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ व्यक्तियों का साहचर्य, सज्जनों की मैत्री, सोच-विचार कर कर्म में प्रवृत्त होना, लोकानुकूल कर्म, समयानुकूल कर्मरत होना आदि अनेक गुणों का राजा में होना आवश्यक माना है (कुरल, 467, 470, 482) । दीर्घ-सूत्रता, विस्मरण, आलस्य एवं निद्रा का किसी राजा में होना विनाश की ओर अग्रसर करने वाली नाव के सदृश है (कुरल, 605) । अमात्य के गुणों के अन्तर्गत साधन, काल, कर्म एवं उस कर्म को करने की विशिष्ट रीति के ज्ञान से युक्त होना अनिवार्य आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त निर्भयता, कुलीनता, संरक्षण-शक्ति, अध्ययन से प्राप्त ज्ञान तथा दृढ़ प्रयास, आवश्यकतानुसार सम्बन्ध विच्छेदन, संरक्षण तथा पृथक् हुए व्यक्ति को पुनः साथ मिला लेने की शक्ति से भी मंत्री को सम्पन्न होना चाहिए । विभिन्न विषयों को समझने की विशिष्ट शक्ति, विश्लेषण के आधार पर विशिष्ट कर्म करने एवं अपने अभिप्राय को निर्भयतापूर्वक कहने की क्षमता होनी चाहिए । इस प्रकार का धर्मज्ञ, ज्ञान-सम्पन्न वक्ता एवं शक्ति को समझने वाला मर्मज्ञ ही मंत्री होता है । केवल ग्रंथ-ज्ञान पर्याप्त नहीं, उसके साथ तीक्ष्ण बुद्धि का समावेश, लोक-व्यवहार को समझ कर उसके अनुकूल कर्म करना एवं दृढ़ता का भी समावेश आवश्यक है । यदि राजा अनुचित करे, अज्ञानी बना रहे तो भी न्याय को दृढ़तापूर्वक व्यक्त करना अमात्य का कर्त्तव्य-कर्म है । ऐसा मंत्री राजा का नेत्र होता है, उसके सबल होने पर ही स्थायित्व प्राप्त होता है अन्यथा शत्रुओं के अभाव में भी राजा का नाश अवश्यम्भावी है । बाधा उपस्थित करने वाला मंत्री सात करोड़ शत्रुओं से भी अधिक कष्ट-कारक हो सकता है (अमैच्चु, अध्याय, 64)।

दूत

परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार 'दूत' को विभिन्न प्रकार के अधिकारों से युक्त किया जाता था । दूत के लिये प्रेम, बुद्धि और विचारपूर्ण वाक्शक्ति आवश्यक

है। स्नेह-सम्पन्नता, राजा की इच्छा के अनुसार कर्म करना, कर्तव्य-निष्ठा, देश और काल का विचार रख ध्यान से कथन करना, बुद्धि, व्यक्तित्व और गम्भीर अध्ययन से युक्त होना भी दूत के गुण हैं। विज्ञ, निडर, प्रभावी वक्ता, प्रत्युत्पन्न मति से युक्त, अत्यन्त निर्भीक दूत ही राजा को श्रीसम्पन्न कराने वाला होता है। वल्लुवर दूत के लिए समयानुकूल मधुर भाषण और प्रकाण्ड विद्वत्ता का विशेष उल्लेख करते हैं (दूतु, अध्याय, 69)।

गुप्तचर

राज्य के भीतर अथवा अन्य राजाओं के क्षेत्र में होने वाली घटनाओं की सूचना प्राप्त करने का कार्य गुप्तचर का था। गुप्तचर और नीति ग्रंथ - ये राजा के उभयनेत्र हैं। राज्य में हो रही अथवा सम्भव घटना की शीघ्र जानकारी प्राप्त करना उसका कर्तव्य है। गुप्तचर कर्मचारी, बन्धु, शत्रु, सभी का अन्वेषण करता है। भयंकर परिस्थिति में भी हृदयस्थ भाव को अभिव्यक्त न होने देना, रूप-परिवर्तन, गुप्त विषयों को खोजने की सामर्थ्य तथा ज्ञात विषयों में पूर्ण स्थिर भाव उसके प्रमुख गुण हैं। वल्लुवर मानते हैं कि शासन-व्यवस्था ऐसी हो कि एक गुप्तचर को दूसरे गुप्तचर का भान न हो तथा एक गुप्तचर की दी गई जानकारी की प्रामाणिकता अन्य स्रोत से जांच ली जाए। राजा गुप्तचर के द्वारा वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है। गुप्तचर का सम्मान कभी भी व्यक्त रूप से न किया जाए क्योंकि ऐसा करना रहस्यों का उद्घाटन करने के समान है (ओट्राडल, अध्याय, 59)।

कोष (वित्त-साधन)

धन-बल-निरूपण (पोरुळ् सेयलवहै) शीर्षक से धन-संग्रह पर बल देते हुए कवि ने माना है कि शत्रु के मिथ्याभिमान को नष्ट करने का वह सर्वोत्तम शस्त्र है। समाज की व्यवस्था ऐसी है कि निर्धन का सब अपमान करते हैं परन्तु धनवान की प्रशस्ति गाई जाती है (कुरल, 752)। दया-भाव स्नेह से उत्पन्न होता है परन्तु दया-शिशु का पालन-पोषण तो धन नामक धाय ही करती है। अपना धन हाथ में लेकर कर्म-मार्ग पर अग्रसर होना टीले पर चढ़ कर हाथियों की लड़ाई देखने के समान है (कुरल, 757, 758)। न्याय-संगत, निर्दोष रूप से प्राप्त धन, कर्म एवं आनन्द का कारण बनता है परन्तु जो धनवैभव दया एवं प्रेम-भाव से प्राप्त नहीं होता, उसे अस्वीकार कर देना चाहिए। उत्तराधिकार में प्राप्त, चुंगी इत्यादि करों से प्राप्त तथा शत्रु-दमन के पश्चात् संग्रहीत धन पर राजा का अधिकार होता है (कुरल 754, 755, 756)। धन का

ऐसा चमत्कार है कि तुच्छ व्यक्ति को भी सम्मानित स्थान प्रदान करता है। इस प्रकार की शक्ति किसी अन्य तत्व में नहीं। यह ऐसा दीपक है जो कभी नहीं बुझता और अपने स्वामी की बाधाओं का नाश करता है, अतः राजा के लिये कोष का सम्यक् विकास एवं संरक्षण करना आवश्यक है।

सैन्य

तिरुवल्लुवर ने सैन्य-सौष्ठव (पडैमाट्चि) एवं सैन्य-शौर्य (पडैच्चेरुक्कु) के अन्तर्गत संगठन की आवश्यकता, उत्तम सेना के गुण एवं सैनिकों के आदर्शों का उल्लेख किया है। विभिन्न अंगों से पुष्ट, बाधाओं से अविचलित, विजय-प्रदायिनी सेना राजा की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। सेना का गठन इतना प्रबल हो कि स्वयं यम द्वारा सक्रोध आक्रमण करने पर भी संगठित होकर शौर्यपूर्ण ढंग से उसका सामना करने में सक्षम हो। सेना की संख्या का महत्व नहीं, महत्व उसकी शूरता और संगठन का है। प्रबल सेना शत्रु की वंचना में आकर क्षतिग्रस्त नहीं होती और-परम्परागत शौर्य से युक्त होती है। सेना के श्रेष्ठ रक्षक हैं - शौर्य, सम्मान, उत्साहवर्द्धन एवं विश्वास-पात्रता। आक्रमण करने वाली सेना को रोककर, उसकी गति से अवगत होकर, युद्ध में अग्रसर होने वाली सेना ही उत्तम है। सेना यदि क्षीणता, स्थायी घृणा एवं निर्धनता से मुक्त हो तो उसकी विजय निश्चित् है। वीरत्व का प्रयोग दुर्बल पर नहीं अपितु प्रबल पर करने का परामर्श देते हुए कवि-कथन है कि जंगली खरगोश पर अचूक बाण मारने की अपेक्षा हाथी पर चूकते हुए भी भाले का प्रयोग श्रेयस्कर है। शत्रु पर की गई निर्दयता महान् पौरुष है पर यदि उस पर कोई दुःख आन पड़ा हो तो उसकी सहायता करना इस पौरुष का प्रखर रूप है। वीर सैनिक का शौर्य उसमें आश्चर्यजनक क्षमता उत्पन्न कर देता है। विकट युद्ध के समय अपने हाथ के भाले को शत्रु के हाथी पर प्रहार करके पीछे हटते समय वीर सैनिक की छाती पर शत्रु द्वारा फेंका गया भाला भिद जाता है; वह प्रसन्न होता है क्योंकि शत्रु पर प्रयोग करने के लिए उसे एक और भाला प्राप्त हो गया है! प्रतिज्ञा कर, आवश्यकता पड़ने पर युद्ध में मृत्यु का वरण करने को प्रस्तुत रहने वाले वीर के दोषों पर कौन विचार करता है? तिरुवल्लुवर वीर व्यक्ति के लिये उस मृत्यु को काम्य मानते हैं जिससे उसके राजा के नेत्रों में भी अश्रु आ जाएं! इस प्रबल वीर के नेत्र शत्रु द्वारा सामने से फेंके गए भाले के कारण भी नहीं झपकते क्योंकि वह तो मृत्यु के साथ खिलवाड़ करता है।

मित्रता

तिरुक्कुरल में 'मित्रता' के विषय में विशेष विवेचन उपलब्ध है। तद्विषयक कथन राजा के विषय में तो सत्य हैं ही, मानव-मात्र के लिये भी उनमें मार्गदर्शन है। मित्रता (नट्पु), मित्रता का विवेचन, (नट्पारायदल्), चिर-परिचय (पळमै), निकृष्ट मित्रता (ती नट्पु), झूठी मित्रता (कूडा नट्पु) इन पांच शीर्षकों के अन्तर्गत 50 पदों में वल्लुवर ने मैत्री-सम्बन्धों, उसके लिये आवश्यक विचार-पूर्ण चुनाव, कपटपूर्ण मित्रता की स्थिति और आदर्श मैत्री के लिए आवश्यक त्याग-भाव पर विचार किया है। उनके मतानुसार बुद्धिमानों से मैत्री करनी चाहिए क्योंकि उनकी मित्रता बढ़ते हुए बाल-चन्द्र के समान आनन्ददायिनी होती है जबकि मूर्खों की मैत्री घटते हुए पूर्णचन्द्र के समान होती है (कुरल, 782)। इस प्रकार के बुद्धिमान सज्जनों की मैत्री अधिकाधिक सम्पर्क में आने पर उसी प्रकार आनन्दप्रद होती जाती है जिस प्रकार अधिकाधिक अध्ययन से काव्य के रसोद्बोधन में वृद्धि होती है (कुरल, 183)। यह मैत्री हृदय को आनन्द प्रदान करने का स्रोत होती है। मनुष्य के कर्म का अनुपम रक्षक मित्र ही है। दुःख या विनाशकाल में ऐसा मित्र विनाशकारी तत्त्वों से हटाकर श्रेष्ठ मार्ग पर ले जाता है। ओढ़े हुए वस्त्र के खुलने पर जैसे हाथ तुरन्त वहां पहुंचकर शरीर को ढक लेता है, उसी प्रकार मित्र के दुःख का तत्काल निवारण ही मैत्री है। इस प्रकार की मैत्री का केवल अनुभव होता है कथन नहीं किया जाता। मित्र का अधिकार केवल हँसी और आनन्द का नहीं, अपितु सीमा का उल्लंघन होने पर आगे बढ़कर डांटने का भी है। इस प्रकार के महत्वपूर्ण व्यक्ति के चुनाव के विषय में निश्चय ही सावधानी अपेक्षित है। मित्र बनने के बाद स्नेहपूर्ण व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता नहीं रहती अतः विवेचन के उपरान्त ही मित्र बनाना चाहिए। पूर्ण विवेचन के अभाव में मैत्री-सम्बन्ध मृत्यु-सदृश भयंकर हो सकता है।इसे ध्यान में रखकर गुण, वंश, दोष, स्थायी बन्धुओं के स्वभाव को समझ कर अपने दोषों पर लज्जित होने वाले, आवश्यकता पड़ने पर डांट-डपट कर लोक-रीति का ज्ञान कराने वाले, विषम परिस्थिति में साथ न छोड़ने वाले, निर्मल स्वभाव वाले सज्जन की मैत्री करनी चाहिए। जो विपत्ति के समय साथ छोड़ दें ऐसे लोगों की मैत्री का मृत्युकाल में स्मरण हृदय को पीड़ित करेगा। विपत्ति का तो प्रयोजन ही मित्र के स्वाभाव की विशालता का मापदण्ड है। मूर्ख व्यक्ति की मित्रता, कुछ देकर ही सही, छोड़ देना लाभप्रद है। मित्रता की स्वीकृति के उपरान्त मित्र के अधिकार-पूर्ण किए हुए कर्म को, स्वयं किया हुआ न माना तो चिरपरिचित मैत्री का क्या प्रयोजन ?

मित्रता के इस आदर्श रूप के साथ ही कवि ने सम्भव व्यावहारिक रूप को भी संकेत किया है। निकृष्ट मित्र को परखने की कसौटी स्पष्ट ही है - घर के एकान्त में मैत्री प्रकट करना, और भरी सभा में निन्दा करना ; अपना लाभ हो तो मैत्री करना अन्यथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना ; स्वलाभ को प्राथमिकता देना; कथनी कुछ और करनी कुछ इत्यादि के आधार पर मैत्री की परख हो सकती है। अपने लाभ को समक्ष रखने वाले मित्र, धनाश्रित वेश्याएं और लुटेरे एक समान हैं। मूढ़ व्यक्ति की मैत्री की अपेक्षा बुद्धिमान की शत्रुता कोटि गुणा लाभप्रद है। अन्तर से कटु पर बाहर से हंसमुख की मित्रता की अपेक्षा शत्रु की घृणा दशकोटि गुणा लाभप्रद है। वल्लुवर का मत है कि युद्ध-क्षेत्र में योद्धा को गिराकर भाग जाने वाले मूढ़ अश्व जैसे व्यक्ति की मित्रता की अपेक्षा अकेला रहना श्रेयस्कर है।

निकृष्ट मैत्री में मित्र मूढ़, असभ्य, स्वलाभ को प्राथमिकता देने वाला, कथनी-करनी में भेद करने वाला होता है परन्तु हृदय में मित्र को सप्रयास हानि पहुँचाने का भाव नहीं रहता। झूठी मित्रता इससे भिन्न है। मित्रवेश में शत्रु से सावधान रहना चाहिए। ऐसे व्यक्ति बाहर से बन्धु बने हुए भी हृदय से बन्धु नहीं होते। इनकी मैत्री वेश्या के मन के समान अस्थिर होती है। मुख पर मधुर हास्य सहित रहकर, मन में वंचना से युक्त रहने वाले व्यक्तियों से सतर्क रहना चाहिए। मित्र के समान लाभप्रद, अच्छे विषयों का कथन करने पर भी शत्रुओं के वचनों की पहचान सम्भव है। सम्भव है कि शत्रु के विनययुक्त हाथों में शस्त्र छिपा हुआ हो अतः उसके आंसुओं पर भी विश्वास न करो। समाज में आपकी प्रशस्ति गाकर, हृदय में निन्दा का भाव रखने वालों के साथ प्रत्यक्षतः मधुर रहो, पर उनको समाप्त कर डालो। शत्रु यदि आपके सामने झुकने लगे तो भी उसका विश्वास न करो क्योंकि धनुष का झुकाव हानि की पूर्व-सूचना देता है। यदि शत्रु का विरोध करने में असमर्थ हो तो झूठी मित्रता द्वारा उसका सामना करो। इस प्रकार जीवन के व्यावहारिक पक्ष को आदर्श के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास स्वतः स्पष्ट है।

दुर्ग

प्राचीन काल में राजा की सुरक्षा का आधार दुर्ग था। वल्लुवर के अनुसार दुर्ग कर्मठ योद्धाओं के लिये भी महत्वपूर्ण है और भयभीत जन के लिये भी रक्षा का कार्य करता है। दुर्ग के लिये आवश्यक उपकरणों में माणिक्य के समान स्वच्छ जल, विशाल भूभाग, ऊंचे पर्वत एवं शीतल छाया से युक्त सुन्दर वन हैं। यह दुर्ग ऊंचाई,

चौड़ाई, दृढ़ता तथा दुर्जेयत्व से सम्पन्न होना चाहिए। सुरक्षा की दृष्टि से छोटे स्थान का भी निर्माण किया जाता था और साधारण व्यवहार के लिये अधिक विशाल स्थल भी रखा जाता था। इसके भीतर प्रचुर खाद्य-सामग्री, सभी आवश्यक पदार्थ एवं अन्य साधारण सुविधाओं की व्यवस्था रहती थी। आवश्यकता पड़ने पर विषम परिस्थितियों में सहायता प्रदान करने के लिए यह दुर्ग योग्य वीरों से युक्त होता था। इसके निर्माण में यह ध्यान रखा जाता था कि घेरा डालकर अथवा अचानक आक्रमण करके और या फिर षड्यंत्र आदि द्वारा इसे हस्तगत न किया जा सके। दुर्ग के भीतर, शत्रु के घेरा डाल देने की स्थिति में, धन-धान्य तथा युद्ध-सामग्री इत्यादि की व्यवस्था भी की जाती थी।

तिरुवल्लुवर ने काव्यमय पद्धति से, क्रमबद्ध विवेचन द्वारा आदर्श राजा (नेता), अमात्य एवं राज्य के अन्य अंगों का उल्लेख किया है। वे मैत्री के आदर्श रूप एवं निकृष्ट रूप दोनों का परिचय देते हैं। सेना, सेना-शौर्य एवं संगठन का तर्कपूर्ण विश्लेषण है, अवसरानुकूल दयाभाव एवं दुर्बल की रक्षा का दायित्व भी वीर योद्धाओं का माना है। उनके काव्य का लक्ष्य लोक-कल्याण है। 'शिक्षा' का महत्व, निष्पक्ष निर्णय के लिये स्नेह, बुद्धि, निश्चलता एवं निर्लोभिता की आवश्यकता, सामाजिक जीवन के लिये पारस्परिक मधुर-सम्बन्ध तथा प्रत्येक कर्म के लिए शक्ति, काल और स्थल के सम्यक् चुनाव इत्यादि अनेक विषयों का वल्लुवर ने विवेचन किया है। सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से मूढ़ता, नीचता, अहंकार आदि के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया गया है। प्रयोजन-हीन सम्पत्ति, दरिद्रता तथा उसके फलस्वरूप याचना, भिक्षा-वृत्ति इत्यादि सामाजिक-जीवन के संगठन की दुर्बलता से उत्पन्न समस्याएं हैं। कवि ने आदर्श समाज के लिए अर्थ के उत्पादन, वितरण एवं सामाजिक जीवन के सम्बद्ध प्रश्नों का काव्यमय पद्धति से वर्णन किया है।



तिरुवल्लुवर - काव्य में रागात्मक सम्बन्ध (इनबम्)

"कामतुपाल् में संयोग और विप्रलम्भ शृंगार की हृदयग्राही छटा है। मुक्तक-काव्य की तरह जहाँ एक-एक कुरल अपने में पूर्ण है वहाँ सम्पूर्ण खण्ड में एक सुन्दर नाटक का सा भान होता है। इस नाटक के प्रधानपात्र नायक और नायिका हैं और उनकी सहायता के लिए एक सखी और एक सखा का भी आयोजन है। पूर्वराग, प्रथम-मिलन, संयोगानन्द, विरह-दुःख तथा पुनर्मिलन इसका विषय है"(मु. वेण्कटकृष्णन कृत तिरुकुरल, हिन्दी पद्यानुवाद, भूमिका से)।

கண்ணொடு கண்ணிணை நோக்கொக்கின் வாய்ச்சொற்க
ளென்ன பயனு மில.

कण्णोडु कण्णिणै नोकोकिन् वायूचोर्ल्
एन्न पयनुम् इल। (कुरल, 1100)
नयनों से मिलकर करें नयन जब सैन,
तो मुख-वचनों का भला क्या उपयोग ?

உடம்பொடு உயிரிடை என்னமற் றன்ன
மடந்தையொடு எம்மிடை நட்பு.

उडम्बोडु उयिरिडै एन्न मद्रन्न
मडन्दैयोडु एम्मिडै नट्पु। (कुरल, 1122)
जैसे देह और प्राण अभिन्न हैं, परस्पर आधार हैं
इस ललना के साथ मेरा सम्बन्ध ऐसा ही है। (नायक कथन)

वर्ण्य विषय, तमिल-साहित्य की विशिष्ट परम्परा-तिनै का परिचय, संयोग शृंगारः पूर्वराग, सौन्दर्य-प्रशंसा, प्रेम की महिमा, मान, प्रवास, प्रणयमान, ईर्ष्यामान, मानभंग, सौन्दर्य चेतना, वियोग शृंगारः अंग-असौष्ठव, प्रवास, वियोगजन्य व्याकुलता, दैन्य, स्वप्न-दर्शन, संध्या, स्मरण, निष्कर्ष।

4

तिरुवल्लुवर-काव्य में रागात्मक सम्बन्ध

तिरुवल्लुवर-काव्य में रागात्मक सम्बन्ध (कामत्तुप्पाल्)

प्राचीन काल से ही हमारे देश में धर्मपूर्वक अर्थ और काम ग्रहण करना मानव-जीवन का निर्दिष्ट लक्ष्य रहा है। सिद्धान्त और व्यवहार रूप में 'काम' को मर्यादित करके उसे जीवन के विशिष्ट अंग के रूप में मान्यता प्रदान की गई। 'काम' से तात्पर्य मानव की आधार भूत जैविक आवश्यकताओं और एषणाओं से है जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। कामतृप्ति वांछनीय है, क्योंकि इसके बिना सृष्टि ही सम्भव नहीं है। एक पुरुषार्थ के रूप में 'काम' की कल्पना से यह स्पष्ट है कि भारतीय विचारधारा कामएषणा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को जीवन की आवश्यकता मानती है।

पुरुष-स्त्री के स्वाभाविक प्रकृत आकर्षण को काम का साधन माना गया है। इसी की एक अभिव्यक्ति दाम्पत्य-जीवन अथवा गृहस्थ के रूप में होती है। हमारे विवेच्य कवि तिरुवल्लुवर के काव्य में धर्म-सम्मत काम की ही अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने गृहस्थ की परिधि में, सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए काम-खण्ड (कामत्तुप्पाल्) में इस विषय का विस्तृत वर्णन किया है।

वर्ण्य विषय

गुप्त प्रेम (कळवियल्) के अन्तर्गत प्रथमदर्शन, संकेत परिचय (कुरिप्पिरिदल्) मिलनसुख (पुणर्चि महिळ्दल्), सौन्दर्य प्रशंसा (नलम्बुनैन्दुरैत्तल्), प्रेम की महिमा (कादल्सिरप्पुरैत्तल्), इत्यादि के उपरान्त गुप्त-प्रेम के प्रवाद की चर्चा (अलर् अरिवुरुत्तल्) का वर्णन है। पातिव्रत्य (कर्पियल्) के अंतर्गत असह्य वियोग (पिरिवु आट्रामै), विरहिणी का विलाप (पडर् मेलिंदिरंगल्), वेदनापूर्ण नेत्र (कणविदुप् अळिदल्) इत्यादि अनेक अध्यायों में विरह का विस्तृत वर्णन हुआ है। अन्त में प्रिय मिलन होने पर मान-भंग

(निरैयळिदल्), प्रणय-कलह (पुलवि), प्रणय-कलह की सूक्ष्मता (पुलविनुणुक्कम्) एवं प्रणय-कलह का आनन्द (ऊडलुवहै) इत्यादि का वर्णन कर कवि ने प्रेम के संयोग एवं वियोग पक्षों का अत्यन्त सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

तमिल साहित्य की विशिष्ट परम्परा - एक परिचय

'रूपासक्ति और शरीरी आकर्षण का परिणाम है संयोग-सुख। इसमें परम्परानुसार हावादिजन्य चेष्टाएं, सुरत, विहार, मद्यपान आदि का वर्णन होता है।' हिन्दी-साहित्य के रीति-काव्य पर यह कथन जिस प्रकार सत्य उतरता है उसी प्रकार तिरुवल्लुवर के काव्य के 'काम' (इनवम्) अंश के विषय में भी। नायक-नायिका का परस्पर गुप्त प्रेम, शरीरी आकर्षण और उसके फलस्वरूप मानसिक सुख एवं आनन्द, परस्पर संकेत (हावादिजन्य चेष्टाएं) इत्यादि से यह प्रेम-व्यापार प्रारम्भ होता है। संस्कृत-हिन्दी साहित्य और प्राचीन तमिल साहित्य की श्रृंगार-वर्णन की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर विषय-वस्तु अथवा भाव-सामग्री का नहीं अपितु वर्णन-पद्धति एवं वर्गीकरण का है। तमिल के काव्य-शास्त्र विषयक प्रसिद्ध ग्रंथ 'तोलकाप्पियम्' में इससे सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध है। तमिल काव्य 'अहम्' और 'पुरम्' दो भागों में विभक्त किया जाता है; अहम् के अन्तर्गत प्रेम के सात रूपों का उल्लेख है - इन्हें 'तिनै' कहा गया है। सर्वप्रथम 'कैकिलै' के अन्तर्गत पुरुष का 'मुग्धा' के प्रति एकांगी प्रेम वर्णित होता है, सबसे अन्त में 'पेरुन्तिणै' के अन्तर्गत असमान प्रेम के परिणामस्वरूप हुई अति का वर्णन किया जाता है। अन्य पांच प्रकार के वर्णनों में प्रत्येक प्रकार से योग्य, परस्पर आकर्षण के कारण प्रेमपाश में आबद्ध युवक और युवती के श्रृंगार का वर्णन किया जाता है। 'तोलकाप्पियम्' में प्रेम के पांच प्रकारों का वर्णन पांच विभागों में विभक्त किया गया है। ये पांच विभाग हैं -

1. कुरिंजि - पर्वत-प्रदेश
2. मुल्लै - अरण्य प्रदेश
3. मरुदम् - जलसमृद्ध समतल प्रदेश
4. नेय्दल - समुद्रतट प्रदेश
5. पालै - शुष्क प्रदेश

डॉ. न. व. राजगोपालन के मतानुसार ये पांचों नाम वास्तव में पांच पुष्पों के वाचक हैं, किन्तु इन प्रदेश विशेषों के लिए विशिष्ट पुष्प के रूप में इनको माना गया है। ये ही पुष्प-विशेष उक्त प्रदेश-विशेषों के अभिधान हो गए, फिर उन प्रदेशों की पृष्ठभूमि पर वर्णित होने वाले प्रेम प्रकार के भी नाम बन गए। इन पांचों भूप्रदेशों के अनुसार ही प्रेमाभिव्यक्ति को भी पांच रूपों में विभक्त कर दिया गया। प्रथम-दर्शन एवं

प्रेम 'कुरिंजि' में, अल्पकालीन विरह 'मुल्लै' में, दीर्घकालीन विरह 'नेय्दल' में, दीर्घकालीन वियोग 'पालै' में एवं गृहस्थ का मधुर प्रणय 'मरुदम्' में वर्णन का विषय बना। कालक्रम से काव्य में यह नियम के रूप में मान लिया गया और प्रत्येक विभाग विशिष्ट वर्णन के लिये पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

पुरुष और स्त्री के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों को दो भागों में विभाजित किया गया है। विवाह-पूर्व प्रेम अथवा पूर्वराग (कलवु) और विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने के बाद का प्रेम (करपु)। तिरुवल्लुवर ने शृंगार के अन्तर्गत संयोग का वर्णन अपेक्षाकृत कम किया है। भाव की तीव्रानुभूति, मार्मिकता इत्यादि का जो रूप वियोग में उभर कर आता है, वह संयोग में सम्भव नहीं; परन्तु संयोग-शृंगार का जो वर्णन उपलब्ध है वह प्रभावोत्पादक है, उसमें जीवन्त तत्व है, हर्ष और उल्लास का वातावरण है। वल्लुवर के संयोग-वर्णन का विवेचन करने से पूर्व उस युग के तमिल समाज में व्याप्त प्रेम-विषयक धारणाओं का एक संकेत प्रस्तुत करना उचित होगा।

तिरुवल्लुवर के 'इनबम्' (काम) खण्ड को प्रायः समस्त टीकाकारों ने नायक-नायिका के प्रथम दर्शन (पूर्वराग) प्रेम, विरह और पुनर्मिलन का वर्णन माना है। यह प्रेम नायक-नायिका के एकान्त में आकस्मिक मिलन से प्रारम्भ होता है। प्रथम दर्शन में प्रेम का सूत्रपात होता है। धीरे-धीरे विकसित होता हुआ यह शांत प्रेम-सम्बन्ध शब्दों में अभिव्यक्त होता है। प्रिय एवं प्रिया परिणय-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। पारस्परिक अदम्य विश्वास के अतिरिक्त इस सम्बम्ध-सूत्र के लिए कोई सामाजिक क्रियाएं (RITES) सम्पन्न नहीं की जातीं परन्तु तमिल प्रदेश के उस काल में सामाजिक मान्यता प्राप्त करने के लिये इतना ही पर्याप्त था। यह संस्कृत-काव्य एवं धर्म-शास्त्रों में वर्णित गंधर्व-विवाह के समान ही है। इस विवाह-सम्बन्ध की सूचना प्रेमीयुगल द्वारा अपने तक सीमित रखी जाती है और वे यह प्रयास करते हैं कि अनुकूल अवसर प्राप्त करते ही इसे सबको बता दिया जाये परन्तु पति और पत्नी दोनों उस समुचित अवसर की प्रतीक्षा करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। प्रेम में धैर्य कहां ? वे चोरी-छिपे परस्पर मिलते रहते हैं। युवती के माता-पिता एवं सम्बन्धी अभी मानसिक रूप से इस सम्बन्ध को स्वीकृति प्रदान करने की स्थिति में नहीं होते और इधर काम-मिलन धीरे-धीरे चर्चा का विषय बनना प्रारम्भ हो जाता है। तमिल प्रदेश के प्रेमीजनों ने इसका भी समाधान निकाला। युवक एक प्रकार की शारीरिक और मानसिक तपस्या करता है जिससे कि युवती के माता-पिता एवं सम्बन्धी तथा ग्राम-निवासी उसकी प्रेमिका को उसे सौंप

ताड़-वृक्ष की कुछ शाखाएं इस प्रकार से एकत्र कर ली जाती हैं कि एक मनुष्य के बैठने योग्य स्थान बन जाये। प्रेमी इस शाखा में बैठ जाता है और उसके अनेक मित्र इसी मुद्रा में उसे ग्राम भर में घुमाते हैं। इस अवसर पर मित्र-मण्डली द्वारा अनेक भावपूर्ण प्रेम-गीत गाये जाते हैं। ताड़-वृक्ष की नोकें काफ़ी तीखी और कठोर होती हैं। अतः यह प्रक्रिया पर्याप्त कष्टप्रद तपस्या है। प्रेम-मार्ग के इस पथिक को ग्राम-निवासियों के उपहास का पात्र भी बनना पड़ता है और अनेक बार उसकी प्रिया का नामोल्लेख भी होता है। यह समस्त कोलाहल ग्राम के वृद्धजनों एवं युवती के माता-पिता और सम्बन्धियों तक पहुँचना स्वाभाविक है। युवक-युवती अपने विषय में होने वाली इस चर्चा को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। प्रतिक्रिया क्रोधमिश्रित होती है, युवती को डांट-फटकार भी मिलती है पर अब इस विवाह-सम्बन्ध की स्वीकृति के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी शेष नहीं ; अतः युवक-युवती के सम्बन्ध की सामाजिक स्वीकृति हो जाती है।

संयोग श्रृंगार

'पारस्परिक प्रेम के वशीभूत होकर जब नायक-नायिका एक-दूसरे के दर्शन, मिलन, स्पर्श और आलाप आदि में लीन होते हैं, विद्वानों ने उस अवस्था को संयोग और उसके वर्णन को संयोग-श्रृंगार कहा है।' तिरुवल्लुवर ने संयोग का बड़ा संयत परन्तु प्रभावोत्पादक वर्णन किया है।

पूर्वराग - पूर्वराग में आलम्बन निकट भी रह सकता है परन्तु कुछ व्यवधानों के उपस्थित हो जाने के कारण अथवा समुचित साधनों के अभाव में आलम्बन का मिलन नहीं होता। तिरुवल्लुवर के नायक और नायिका का प्रथम मिलन दोनों के हृदय में प्रेम के अंकुर को प्रस्फुटित कर देता है। एकांत स्थल में, नायक नायिका को देखकर, उसकी ओर आकृष्ट होता है। परिचय के अभाव में मन-ही-मन उसकी रूप-माधुरी की प्रशंसा करता है। वह सोचता है - यह सुर बाला है अथवा मयूरी ? कहीं स्वर्ण-कुण्डल ग्रहण किये हुए यह कोई युवती ही तो नहीं है ? नायक के हृदय पर नायिका के तीक्ष्ण नयनों का आघात होता है, उसे नेत्रों के समक्ष होकर निहारना सबल सैन्य से युक्त सुर-बाला से स्वयं संग्राम करने के सामान लगता है। बाला की वक्र भृकुटी, उभरे हुए कुचभाग पर पड़ा हुआ वस्त्र उज्ज्वल मस्तक, हिरणी के समान दृष्टि, सभी मानो बांध से लेते हैं। उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में यह प्रथम मिलन आकर्षण का रूप धारण करता है। पूर्वानुरागिनी नायिकाएं अवस्था की दृष्टि से प्रायः मुग्धा हैं। इस अवस्था में भावुकता

का स्वाभाविक अतिरेक उनकी भावनाओं को अत्यधिक तीव्र बना देता है। तिरुक्कुरल की 'मुग्धा' भावुकता के इस स्वाभाविक अतिरेक एवं तीव्र भावनाओं से युक्त है।

एकान्त में दर्शनोपरान्त प्रेम शनैः-शनैः विकास प्राप्त करता है। संकेतादि से मन के भावों को समझ लेने के उपरान्त नेत्रों के मिलन से हृदयों का मिलन हो जाता है। नायक को नायिका के शरीर में रूप, शब्द, रस, गंध और स्पर्श इन पांचों विषयों का सुख प्राप्त होता है। प्रेमिका के अतीव कोमल स्कन्धों का आलिंगन-सुख विष्णु-लोक के सुख से भी श्रेष्ठ प्रतीत होता है। बाला के शरीर का प्रत्येक स्पर्श प्राणों को अमृत के समान नव-स्फूर्ति प्रदान करता है। नायक-नायिका का आलिंगन करता है तो उसे उसी प्रकार का आनन्द अनुभव होता है जो अपने परिवार में बांट कर भोजन करने से प्राप्त होता है। तिरुवल्लुवर ने प्रिय-प्रिया के ऐसे गाढ़ालिंगन का वर्णन किया है जिसके मध्य वायु की स्थिति भी स्वीकार्य नहीं है। परिरम्भण से उत्पन्न आनन्द को अधिकाधिक अध्ययन से अवगत अज्ञानबोध के समान कहा है।

तिरुवल्लुवर के संयोग शृंगार के वर्णन में एक निश्चित् मर्यादा है। कवि यहां भी अपने नीति पर आधृत दृष्टिकोण से स्वयं को असम्पृक्त नहीं करता। तिरुक्कुरल के शृंगार में उन्मुक्त वातारण में उन्मुक्त वर्णन है, पर यह वर्णन अपनी मर्यादा जानता है। वर्णन की मौलिकता, प्राकृतिक जीवन की उपमान-सामग्री और वातावरण-निर्माण में कवि सफल रहा है पर नैतिक दृष्टि की सीमा-रेखा उसे निरन्तर बांधे रखती है।

मान : तिरुवल्लुवर-काव्य में शृंगार के विभिन्न रूपों में मान को सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ है। यहां मान प्रायः प्रणयमान है और भरपूर प्रेम की स्थिति में प्रेमवृद्धि के उद्धेश्य से किया जाता है। तिरुवल्लुवर में 'खंडिता' इत्यादि का वर्णन नहीं है। यहां तो गृहस्थ की मर्यादा में सहज उल्लासमय जीवन व्यतीत कर रहे दो प्रेमियों के पारस्परिक हास-परिहास, रूठना-मनाना आदि को ही स्थान मिला है। ईर्ष्यामान का वर्णन हुआ तो है, पर वहां कवि की दृष्टि परम्परागत वर्णन से भिन्न है।

प्रणयमान : 'पुलवि' अथवा प्रणयकलह का आधार कुछ भी हो सकता है। बस यूं ही छेड़छाड़, मान-मनुहार अथवा प्रिय के हृदय के प्रेम को विकास प्रदान करने के उद्देश्य से मान कर लिया जाता है। सखी नायिका को समझाती है कि प्रणय-कलह की पीड़ा उनमें देखने के लिए तनिक कृत्रिम क्रोध कर, आलिंगन किये बिना रहो पर साथ ही वह उसे यह भी समझा देती है कि मान प्रेम का नमक है, भोजन में अधिक

नमक रुचिकर नहीं होता, इसलिए मान भी सीमा में होना चाहिए। मान का लक्ष्य है - प्रेम को विकास प्रदान करना क्योंकि छोटे-बड़े प्रणय-कलह न हों तो प्रेम अधिक पके अथवा अध-कच्चे फल के समान रह जायेगा।

सखी के समझाने के उपरान्त नायिका मान करने का विचार करती है पर प्रणय-मान में मानिनी नायिका की स्थिति कुछ विचित्र सी होती है। मन में प्रेम उमड़ रहा है, प्रिय से कोई भूल भी नहीं हुई, हृदय को मान के लिए प्रेरित करने के उपरान्त भी हृदय वश में नहीं है, अतः कई प्रकार से तर्क देकर उसे वश में करने का प्रयास नायिका करती है। अपने हृदय के प्रति नायिका का कथन है - हे हृदय, प्रियतम के हृदय को उनका साथ देता हुआ देखकर भी तू मेरा साथ क्यों नहीं देता ? पर हृदय तर्क से कहां प्रभावित होता है ? नायिका पुनः समझाती है - हे हृदय, तू प्रणय-कलह के प्रतिफल को समझ नहीं पाता, यदि तू मान नहीं करेगा तो मैं तेरा भरोसा कैसे कर पाऊंगी ? हृदय का पागलपन इस सीमा तक जाता है कि वह प्रिय को किसी क्षण भी विस्मृत नहीं करता फलतः नायिका स्वयं ही खीझ कर कह उठती है - उन्हें विस्मृत न करने वाले गौरव-हीन एवं पागल हृदय के साथ मिल कर तो मैं अपनी स्त्रियोचित लज्जा भी खो बैठी हूँ। मान के लिए प्रिय का कोई न कोई दोष तो ढूंढना ही होगा, पर प्रिय में दोष-दर्शन का कार्य हृदय करने नहीं देता, क्योंकि नायक की निन्दा में नायिका की अपनी निन्दा निहित है, अतः हृदय से पराजित होकर वह स्वीकार कर लेती है कि विपत्ति के समय अगर अपना हृदय भी साथ न देता हो तो और कौन साथ देगा ? और फिर अब अपना हृदय ही साथ न दे तो दूसरों का हमारा साथ न देना स्वाभाविक ही है !

प्रेम की निरन्तरता एकरसता का रूप धारण कर आनन्द-विहीनता की ओर अग्रसर हो सकती है। पर प्रणयमान उसमें आनन्द का पुनः सृजन करता है। प्रेम के किंचित् मात्र मुरझाने पर भी प्रणयकलह से उत्पन्न लघु पीड़ा प्रशंसनीय होती है। भोजन करने से अधिक आनन्ददायक उसका पचना होता है, इसी प्रकार प्रेम में भोग से अधिक आनन्ददायक प्रणयकलह होता है। निर्दोष होने पर भी नायक को मान में कुछ क्षणों के लिए नायिका के कोमल बाहुओं से अलग रहने में अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है। नायिका जानती है कि प्रिय निर्दोष है फिर भी मान करती है क्योंकि इससे प्रिय के प्रेम में वृद्धि होती है। पृथ्वी पर जल का पृथ्वी के साथ जो नैकट्य है, इसी प्रकार से परस्पर आबद्ध नायक-नायिका के लिए 'प्रणयमान' स्वर्ग के समान ही आनन्द प्रदान

करता है। वल्लुवर के अनुसार सद्गुणी सज्जन की शोभा सुमननयनी के मन में उत्पन्न प्रणयकलह ही में है। प्रणयमान का इतना महत्व होते हुए भी एक आशंका इसमें रहती है कि मिलन-सुख कहीं अस्थायी न रह जाये। प्रणयमान में मान-मनुहार में नायक को भी अतीव सुख की प्राप्ति होती है। वह भी प्रार्थना करता है कि प्रकाशपूर्ण आभूषणों से युक्त मेरी प्रणयिनी प्रणय-कलह करती रहे, रात लम्बी होती रहे और मैं प्रेम-याचना करता रहूँ। इस प्रणय कलह में पराजित ही विजयी होते हैं, पुनर्मिलन इसका प्रमाण है। प्रणय-मान के टूटते ही जो काम का वेग प्रवाहित होता है उसी का परिणाम होता है - ललाट पर स्वेद-कण उत्पन्न करने वाला प्रबल सम्भोग। वल्लुवर का निश्चित् मत है कि प्रेम का आनन्द प्रणय-कलह में है और प्रणय-कलह का आनन्द पुनः मिलकर प्रेमालिंगन में आबद्ध होने में है।

ईर्ष्यामान : ईर्ष्यामान में नायिका नायक को परस्त्री से प्रेम करते देख, सुन अथवा अनुमान कर ईर्ष्या से कोप करती है। वल्लुवर-काव्य में आदर्श सामाजिक स्थिति का चित्र होने के कारण पुरुष का परस्त्री-सम्बन्ध त्याज्य माना गया है। इसका उल्लेख 'पिरूनिल विऴ्यामै' के अन्तर्गत हुआ है। ईर्ष्या मान के अन्तर्गत नायक का परस्त्री प्रेम इत्यादि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। परन्तु स्त्री की हृदय में स्थित कृत्रिम शंका के कारण नायक को उपालम्भ का शिकार बनना पड़ता है। नायक प्रिया को आलिंगन में आबद्ध करने का उपक्रम करता है तो वह कहती है - हे दुराचारी ! स्त्रियां तुम्हें सामान्य मानकर तुम्हारा रस-पान कर रही हैं, मैं तुम्हारी छाती से न लगूंगी। नायक ने पुष्पमाला धारण की तो नायिका रुष्ट हो उठी क्योंकि उसके विचार में यह माला किसी अन्य को दिखाने के लिए धारण की गई है। नायक स्पष्टीकरण देता है - 'मुझे और किसी से प्रेम नहीं है,' बस नायिका के रुष्ट होने का पर्याप्त कारण है - पूछने लगी -'और किससे, और किससे? 'नायक समझाता है - 'इस जन्म में कभी अलग न होंगे' नायिका के नेत्र सजल हो उठे क्योंकि इसमें यह भी तो अर्थ निहित है कि अगले जन्म में हो सकते हैं। जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्धों में दृढ़ आस्था रखने वाली स्त्री इसी जन्म में अलग न होने की बात से कैसे संतुष्ट हो सकती है ?

एक और स्थिति की कल्पना कीजिए। नायक नायिका बैठे हैं, नायक को जरा छींक आ गई'नायिका ने कहा - 'बधाई!' और नेत्र सजल ! प्रश्न हुआ कि 'किसके स्मरण करने के कारण यह छींक आई; इससे पाठ मिला ; एक और अन्य अवसर पर छींक आई तो उसे नायक ने दबा लिया। नायिका ने देखा और रोती हुई बोली - अपनी

किसी प्रिया के स्मरण को मुझसे छिपाते हैं। इसी कठिन स्थिति का विवेचन करते हुए डॉ. शंकरराजू नायुडू का कथन है - 'प्रणय-कलह के आधार पर इससे अधिक सूक्ष्म वर्णन और हो ही क्या सकता है। छींको तो दोषारोपण, और आती हुई छींक को रोको तो उससे बढ़कर दोषारोपण ! प्रेम दो हृदयों के सामीप्य का सहज परिणाम है। परिपक्व फल के समान तनिक सी ठेस से भी इसको क्षति पहुंच सकती है।' नायिका रूठी हुई है, प्रिय मनाने का प्रयास करता है, प्रेम से समझाता है, वह और भी रूठ जाती है और कहती है - अन्य को आप इसी प्रकार प्रसन्न करते होंगे। नायक प्रेमपूर्वक नायिका को निहार रहा है, नायिका मान कर बैठती है। प्रश्न किया जाता है - किससे मेरे सर्वांगों की तुलना करने के विचार से मुझे ध्यान से देख रहे हैं ? इस प्रकार के चित्रों में एक ओर नाटकीयता का समावेश हुआ है तो दूसरी ओर सुखद प्रेम-जीवन के एक पक्ष का सफल उद्घाटन भी। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि वल्लुवर ने इसे प्रणयमान ही माना है और इस प्रकार का वर्णन प्रणय-कलह की सूक्ष्मता (पुलविनुणुक्कम्) के अन्तर्गत किया है। पर इसमें संकेतित अन्य स्त्री की कल्पना के रूप में उपस्थिति के कारण इसे ईर्ष्यामान के अर्न्तगत माना जा सकता है।

मान-भंग : मान कर लेने के उपरान्त स्थिति और भी कठिन हो जाती है। प्रेम-रूपी कुल्हाड़ी मान नामक लज्जा की अर्गला से युक्त किवाड़ों को तोड़ डालती है। नायिका ने मान किया पर मध्य-रात्रि तक आते-आते संयम टूटने लगा। वह प्रेम को अपने मन में छिपाने का प्रयास करने लगी पर प्रेम छींक के समान बिना किसी पूर्व-सूचना के व्यक्त हो गया। नायिका ने मान किया है, वह प्रणय-कलह के उद्देश्य से प्रिय के निकट गयी, हृदय प्रिय से मिल गया, घर में ही फूट पड़ गई और वह नायक का आलिंगन कर बैठी। इस संदर्भ में नायक का एक कथन है - नायिका ने मान किया, नेत्रों में थी कलह-भावना पर मेरे वहां पहुंचते ही अस्थिर हो मुझसे अधिक वही गाढ़ालिंगन करने लगी। प्रेम की गति बाढ़ के भयंकर प्रवाह के समान होती है। नायिका यह जानती है अतः सखी को कहती है - ' बाढ़ के भयंकर प्रवाह को समझ कर भी उसमें कूदने वाले के समान झूठमूठ उनसे कलह करने में प्रयोजन ही क्या है ? लिखते समय नेत्र जिस प्रकार लेखनी को नहीं देखते, उसी प्रकार प्रियतम को देखते ही उनके दोष नायिका को दिखायी नहीं देते। पियक्कड़ मदिरा को देख अपना नियंत्रण, अपनी सुध-बुध खो बैठता है, प्रिय के वक्षस्थल को देख नायिका की भी यह स्थिति होती है, प्रेम-रूपी मदिरा का प्रभाव अद्‌भुत है ! मदिरा का तो पान करना पड़ता है, वह देखने मात्र से आनन्द प्रदान नहीं करती, पर प्रेम-मदिरा स्मरण-मात्र से सुख और दर्शन-मात्र से आनन्द प्रदान

करने वाली होती है। इस प्रकार प्रेम की मदिरा के वशीभूत होकर नायिका का मान-भंग होता है, प्रिय के दर्शन होते ही सभी उपालम्भ धरे के धरे रह जाते हैं, उनकी उपस्थिति में अनेक दोष दिखाई देते थे अब उन्हें समक्ष पाकर कोई नहीं दीखता और प्रिय-प्रिया आलिंगन-आबद्ध हो प्रेम के अतीव आनन्द की प्राप्ति करते हैं। जिस प्रकार मोम अग्नि में पिघल जाता है, उसी प्रकार प्रिय-संयोग कोमल-हृदया मानिनी के अंग-अंग को पिघलाकर गाढ़ालिंगन में आबद्ध होने के लिए विवश कर देता है।

सौन्दर्य चेतना

प्रिया की रूप-राशि का वर्णन करते समय तिरुवल्लुवर का नायक नायिका के अंगों का वर्णन कर प्रिया के समग्र रूप-सौन्दर्य को अपने समक्ष रखता है। नायिका के अंगों की कोमलता, नेत्रों का अद्‌भुत प्रभाव, मुख का अतीव प्रभावोत्पादक सौन्दर्य इत्यादि नायक के हृदय को बांध लेते हैं।

तिरुवल्लुवर के सौन्दर्य-चित्रों में भंगिमा और रस का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। मुख-सौन्दर्य के वर्णन पर कवि की विशेष दृष्टि गई है - हे चन्द्र ! यदि तुम सुमन - सदृश नेत्र वाली मेरी सुन्दरी के मुख की समानता चाहो तो सबके नेत्रों में न पड़ो (केवल मुझे दिखाई दो!)। चन्द्रमा तथा इस कन्या के मुख में अभेद के भ्रम के फलस्वरूप आकाश के नक्षत्र विचलित हो उठे हैं। बांस जैसी भुजाओं वाली इस बाला के लिए कोंपल ही शरीर, मोती ही दांत, सुगन्धि ही गन्ध तथा शूल ही अंजन-रंजित नेत्र हैं। चन्द्र तो अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होता है, पर उस बाला की मुख-सौन्दर्य-राशि पूर्ण भी है और निष्कलंक भी। नेत्रों का सौन्दर्य ऐसा कि कुमुदिनी देख ले तो अपने को तुच्छ मान कर नतमस्तक हो, पृथ्वी की ओर निहारने लगे। जब मैं उसकी ओर देखता हूँ तो वह पृथ्वी की ओर दृष्टि डालती है, अन्यथा वह मेरी ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्कराती है। प्रिय की भंगिमाएं, तिरछी चितवन, प्रेमपूर्ण नेत्र, मधुर और कठोर वचन आदि के द्वारा प्रिया के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यहां प्रिय के साक्षात्-मात्र से हृदय उमड़ आता है, वाणी मौन हो जाती है और रूप-सौन्दर्य-पाश से आवद्ध हो चेतना लुप्त हो जाती है।

वियोग-शृंगार

विरहावस्था में शृंगार-रस का पूर्ण प्रस्फुटन एवं परिपाक होता है। इस स्थिति में पूर्ण मानसिक मिलन रहता है। मिलने की इच्छा ज्यों-ज्यों तीव्र होती जाती है त्यों-त्यों

प्रेम की गहराई बढ़ती जाती है । ....'विरहाग्नि में तपकर प्रेमी का स्वरूप निखर उ है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अग्नि में तपने के बाद ही स्वर्ण की निकाई निख है ।'

विरह के विकास की स्थिति अद्भुत है । संयोग में शरीर की प्रमुखता हो है, पर वियोग में धीरे-धीरे इन्द्रियजन्य सुख-प्राप्ति के स्थान पर प्रिय-दर्शन की काम शेष रह जाती है । इसके उपरान्त तो प्रिय के कुशल समाचार, उनके संदेश अथ उनके विषय में किसी अन्य के कथन की कामना ही प्रमुख हो जाती है । यह प्रे धीरे-धीरे ऐन्द्रियता के स्थान पर मानसिक धरातल का आधार ग्रहण करता है । तिरुवल्लुवर-काव्य में वियोग इसी प्रकार ऐन्द्रिय धरातल से उठता हुआ मानसिक धरातल पर पहुंचता है । विरह-वर्णन का विश्लेषण करते हुए डॉ. ओम्प्रकाश का कथन है - वर्णन के तीन विषय और हैं - 'स्तन, नेत्र तथा मुस्कान । जिस प्रकार मुख रूप का सामान्य प्रतिनिधि है, उसी प्रकार स्तन यौवन-जन्य शारीरिक विकास के सामान्य द्योतक हैं । ..... यदि काव्य-शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो यौवन-रस की अभिव्यक्ति में ज्योति-वर्णन ध्वनिकाव्य है, नेत्र-मुस्कान का वर्णन गुणीभूत व्यंग्य और स्तन-वर्णन चित्र-काव्य ।' तिरुवल्लुवर-काव्य के कामखण्ड (कामत्तुप्पाल) को इस दृष्टि से देखें तो निश्चय ही वह ध्वनि काव्य और गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य है, उसमें चित्र-काव्य के अंश का अभाव है ।

अंग-असौष्ठव : प्रिय-विरह में नायिका का शरीर अपनी स्वाभाविक कान्ति और सौन्दर्य को खो बैठा है । फलतः नेत्रों को सुन्दर पुष्पों के सम्मुख लज्जित होना पड़ा । रोती हुई पीली आंखें प्रियतम का प्रेम प्राप्त न होने की मानो घोषणा करती हैं । संयोग में आलिंगन-आनन्द से उठी हुई भुजाएं अब ढीली होकर वियोग को स्पष्टतः अभिव्यक्ति प्रदान कर रही हैं। भुजाओं के सौन्दर्य-च्युत हो, सिकुड़कर क्षीण हो जाने से चूड़ियां फिसलती जा रही हैं और निष्ठुर प्रियतम की निर्ममता को व्यक्त कर रही हैं । सखी कहती है - तुम्हारे प्रिय निर्दयी हैं ।

नायिका मन में विचार करती है - ढीले बाजूबंद और क्षीण हुई भुजाओं के साथ हृदयेश के नाम का अपयश सुनने में मैं सर्वथा असमर्थ हूं । विरह-पीड़ा के कारण शरीर के कृश होने, पीला पड़ जाने, लावण्य रहित हो जाने इत्यादि का वर्णन विरह की तीव्रता और विरह-जन्य मानसिक प्रभावों का ही वर्णन है। तिरुवल्लुवर की नायिका प्रियतम के प्रवास के समय परिस्थिति-जन्य विवशता के कारण अपनी सहमति दे देती

है, पर अब व्याकुल होकर पूछती है कि 'अपने पीलेपन की व्यथा किससे कहूँ ?' पीलापन प्रियतम-प्रदत्त है, फलतः पूर्ण अधिकार-जन्य अहंकार के साथ सम्पूर्ण शरीर पर फैलता जा रहा है। जाते समय प्रिय लावण्य और लज्जा तो साथ ले गये और प्रतिफल स्वरूप विरह-वेदना और पीलापन दे गये। नायिका के शरीर पर पीलापन उसी क्षण छा जाता है जिस छण प्रिय प्रवास के लिये प्रस्तुत होते हैं। नायिका को देख सखी, परिवार के सदस्य एवं अन्य लोग भी कहने लगते हैं - 'देखो कितनी दुर्बल और पीली हो गई है !' नायिका कहती है -'पर यह कहने वाला कोई नहीं कि मुझे वे छोड़कर चले गए।' नायिका को अपने विषय में की जा रही चर्चा में कोई आपत्ति नहीं, पर इसी प्रसंग में होने वाली प्रियतम की निन्दा पर अवश्य आपत्ति है। तिरुवल्लुवर ने प्रवास-जन्य विरह का वर्णन 'कर्पियल्' के अन्तर्गत किया है। इस प्रवास के दो कारणों का उल्लेख हैं - नायक का युद्ध के लिए जाना एवं धनोपार्जन के लिए विदेश जाना। तिरुकुरल के अंतर्गत प्रेम के प्रारंभिक अंश में शरीर और शरीर-जन्य सुख की कामना प्रबल रूप में उभर कर हमारे समक्ष आती है। प्रवास की सूचना मिलते ही प्रेम ऐन्द्रियता के स्थान पर मानसिक रूप धारण करने लगता है। प्रिय से वियोग आनन्द और उल्लास से वियोग है, प्रिया के समस्त भावों का आश्रय प्रेमी ही है; उसके अलग होते ही उसका जीवन भावना-विहीन, निरानन्द, तरु से कटी शाखा के सदृश हो जाता है। तिरुवल्लुवर ने विरहिणी की असहायावस्था और दैन्य के अनेक भावमय चित्र प्रस्तुत किए हैं।

नायक के प्रवास की सूचना मिलते ही शरीर के समस्त अवयवों और मन पर मानो आघात सा हुआ। प्रियतम का स्वभाव तो शीतल है, परन्तु उनके वियोग का आघात अत्यन्त प्रबल; उनके वियोग को 'हम से पूर्व हमारी चूड़ियां ताड़ गईं'। 'प्रवास के लिये प्रस्तुत नायक आकर प्रिया को अपने शीघ्र लौट आने का आश्वासन देना चाहता है, पर नायिका कहती है - 'हे प्रिय, जाना न हो तो मुझसे कहें, अन्यथा अपने शीघ्र लौट आने का आश्वासन उन्हें दें जो तब तक जीवित रहेंगे।' नायक की दृष्टि पहले तो आनन्द का कारण बनती थी परन्तु इस सूचना के उपरान्त आलिंगन में भी वियोग-भय से उत्पन्न दुःख है। वह विचार करती है - अब तो किसी पर विश्वास करना भी कठिन हो गया क्योंकि मेरे हृदय को पूर्णरूपेण जानने वाले प्रियतम के मन में भी मुझसे दूर जाने का विचार उत्पन्न हुआ है। नायिका सखी से कहती है - 'यदि मुझे बचाना ही है तो शीघ्र प्रिय के वियोग से बचाओ, अन्यथा वियोग के उपरान्त पुनर्मिलन असम्भव हैं'। प्रिय के समझाने-बुझाने के सभी प्रयास निष्फल ही रहते हैं ; नायिका का तर्क है कि 'तुम इतने कठोर हो गए कि मुझसे विलग होने की चर्चा कर रहे हो, फिर लौटकर

प्रेम निभाओगे, इसकी इच्छा ही व्यर्थ है।' वियोग-सूचना-जन्य मानसिक पीड़ा का तुरन्त प्रभाव होता है और कलाई से न उतरने वाली चूड़ियां फिसल कर गिर पड़ती हैं।

वियोग-जन्य व्याकुलता और दैन्य का चित्रण करने में तिरुवल्लुवर को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। विरहिणी के हृदय में धधकती प्रिय-समागम की इच्छा प्रिय-वियोग में तीव्रतर होकर असह्य वेदना का कारण बनती है। काम-वेदना का प्रबल समुद्र उपस्थित है, पर प्रिय के अभाव में उसे पार करने के लिए आवश्यक साधन रूपी नाव का अभाव है। संयोग के क्षणों में 'काम' आनन्द का समुद्र होता है, पर वियोग में उसका दुःख समुद्र से भी अधिक विशाल हो जाता है। अर्धरात्रि में वह अपने साथ तर्क-वितर्क करती है, पर काम के 'भंवर' में डूबती-उतराती रहती है। जगत्-उपकारिणी रात्रि सम्पूर्ण जीवों को अपनी गोद में सुलाती है, पर स्वयं अकेली रह जाती है। इस समय उस रात्रि का एक सहायक है - प्रिय वियोग में निद्रा के अभाव से युक्त नायिका! यह तो मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कष्ट में समय रुक-रुक कर व्यतीत होता है, दिन तो किसी प्रकार कट ही जाता है, पर रात्रि प्रियतम की कटु निर्ममता से भी अधिक कठोर हो जाती है क्योंकि यह दीर्घ हो जाती है। हृदय तो प्रियतम के पास चला जाता है पर नायिका ऐसा कर पाने में असमर्थ है फलतः नेत्रों के अश्रु-प्रवाह में ही तैर कर समय व्यतीत करती है। नायिका के नेत्रों में अश्रु देख सखी समझाती है पर विवश नायिका का कथन है - 'मैं इस जल को छिपा तो लूं तो पर यह स्रोत के जल के समान निकाले जाने पर भी पुनः भर जाता है।'

वियोग में शरीर के प्रत्येक अंग पर प्रभाव होता है पर नेत्रों की स्थिति विशिष्ट है। प्रथम-मिलन में इन्हीं नेत्रों ने भाग कर प्रिय के दर्शन किये थे, आज ये स्वयं विलाप कर रहे हैं। नायिका के अनुसार यह हास्यास्पद स्थिति है। इन कामुक नेत्रों ने पहले तो बिना विचार किये प्रेम किया, वही अब धैर्यहीन होकर विलाप कर रहे हैं। नायिका के हृदय में असह्य और अनन्त काम-वेदना उत्पन्न कर कामुक नेत्र स्वयं रो रो कर सूख गये हैं। यह असह्य काम-वेदना समुद्र से भी विशाल है और इसे देने वाले नेत्र भी निद्राहीन और वेदना-पीड़ित हैं। पर यह नायिका के संतोष का कारण है क्योंकि 'मुझमें इस प्रकार की काम-वेदना उत्पन्न करने वाले नेत्र अब दुःख से पीड़ित हैं - यह अच्छा ही हुआ।'

प्रिय-वियोग में निरन्तर स्मरण, चिन्तन का एक स्वाभाविक परिणाम है - स्वप्न में प्रिय-दर्शन। निद्रावस्था में देश-काल की सीमाएं लांघ कर अवचेतन प्रिय-दर्शन करता

को अतीव क्लेश देती हुई बढ़ती आती है। प्रातःकाल में प्रेम की पीड़ा कली रूप में होती है, सम्पूर्ण दिवस वह विकास प्राप्त करती है और संध्या में पूर्ण विकास प्राप्त कर लेती है। दुःखदायिनी संध्या के आने की सूचना देने वाली ग्वाले की मुरली नायिका के लिये संहारक अस्त्र का कार्य करती है। दिन भर तो प्राण प्रिय-स्मरण से किसी भाँति वश में रहते हैं, पर बुद्धि को विकार-ग्रस्त करते हुए ढलने वाली संध्या के समय तो प्राण कूच कर रहे प्रतीत होते हैं।

स्मरण : नायिका अपनी स्थिति से धीरे-धीरे समझौता कर लेती है। प्रिय के प्रेम में दृढ़ आस्था और प्रबल विश्वास इसका आधार है। पर यह समझौता प्रिय-स्मरण में बाधा नहीं बनता। प्रिय का स्मरण अनन्त आनन्दप्रद है। मद्यपान का स्मरण मधुर नहीं होता, पर प्रेम की मस्ती का स्मरण मधुर होता है। प्रियतम के स्मरण मात्र से ही वियोग से उत्पन्न सम्पूर्ण दुःख अगोचर हो जाते हैं। नायिका विचार करती है कि मेरे हृदय में तो वे उपस्थित हैं, क्या मेरे लिए भी उनके हृदय में स्थान है और यदि ऐसा है तो प्रिय-विरह शीघ्र दूर होगा। पर सम्भवतः प्रिय अपने हृदय से मुझे निरन्तर अलग रखते हैं यदि ऐसा है तो मेरे हृदय में प्रवेश करते हुए लज्जित क्यों नहीं होते ? वियोग में जीवन का आधार संयोग के मधुर क्षण ही होते हैं अन्यथा जीवित रहने के लिए शेष रह ही क्या जाता है ? प्रियतम ने संयोग के क्षणों में कहा था - हम दो नहीं हैं। ऐसा कथन कह कर भी विरह-पीड़ा देने वाले प्रियतम के हृदय में प्रेम के अभाव का अनुमान कर नायिका के स्नेह युक्त प्राण सूखे जा रहे हैं। नायिका चन्द्र से अनुनय-विनय करती है ' हे चन्द्र ! पहले अभिन्न रहकर, फिर बिछुड़ जाने वाले प्रियतम को जब तक इन नेत्रों से न देख लूं तब तक यहीं बने रहो।' संकेत स्पष्ट है, ज्योतित चन्द्र में ही वह अपने प्रिय-चन्द्र-मुख को देख कर सन्तुष्ट हो लेगी।

समग्र रूप से देखें तो तिरुवल्लुवर के श्रृंगार-वर्णन का आधार लौकिक है एवं उन्होंने नायक-नायिका के प्रकृत प्रेम-वर्णन के माध्यम से प्रेम की मादकता, प्रिय-हृदय की अद्भुत व्याकुलता, प्रिय-वियोग में मिलन की उत्कट अभिलाषा इत्यादि का जीवन्त वर्णन किया है। उन्होंने प्रेम में जिस प्रणयमान और काल्पनिक ईर्ष्या पर आधृत 'ईर्ष्यामान' का वर्णन किया है वह अद्भुत है। वल्लुवर प्रेम की सूक्ष्मता और प्रेमी-हृदयों की कोमलतम भावनाओं को आत्मसात करने और अभिव्यक्ति देने में सफल रहे हैं। उनके काव्य का अनुभूति-पक्ष तमिल-साहित्य की ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है।



तिरुक्कुरल की समाज चेतना

कवि स्रष्टा है, वह समाज से प्रेरणा प्राप्त कर अपने काव्य से समाज को प्रभावित करता है। इस प्रकार काव्य में समाज और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। तिरुवल्लुवर एक जागरूक कवि, आदर्श के पोषक एवं श्रेष्ठ-मानव की परिकल्पना से युक्त थे। ऐसे युग-प्रतिनिधि कवि के काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - उसके गुण, दोषों का आकलन अत्यन्त सहज है। समाज अनायास ही इनके द्वारा स्वतः चित्रित होता चला गया।

இருமனப் பெண்டிரும் கள்ளும் கவறும்
திருநீக்கப் பட்டார் தொடர்பு

इरुमनप् पेण्डिरुम् कल्लुम् कवरुम्
तिरु नीक्क पट्टार तोडर्पु। (कुरल, 920)
वेश्या, मद्य और द्यूत का मेल उन्हीं से रहता है
जिन्हें लक्ष्मी ने त्याग दिया है।

உழுவார் உலகத்தார்க்கு ஆணிஅஃதாற்றாது
எழுவாரை எல்லாம் பொறுத்து.

उळुवार् उलहत्तार्क्कु आणि अह्दाट्रादु
एलुवारै एल्लाम् पोरुत्तु। (कुरल, 1032)
कृषि में असमर्थ करते अन्य व्यापार,
जगत-धुरी है कृषक, है वह सबका आधार।

पूर्वराग, स्वतंत्र उन्मुक्त जीवन के प्रसंग, दाम्पत्य-प्रेम, पत्नीतर प्रेम, वेशभूषा, आभूषण, शृंगार-प्रसाधन, सामाजिक विभाजन, सत्य-मार्ग पर अग्रसर संन्यासी, ढोंगी तपस्वी; मद्यपान, मांसाहार, सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियां:, जुआ, वेश्यावृत्ति; औषधि, कृषिप्रधान समाज, आदर्शोन्मुख समाज।

5

तिरुवल्लुवर की समाज-चेतना

'तिरुक्कुरल' में अभिव्यक्त समाज

तिरुवल्लुवर स्रष्टा कवि थे ; जीवन को, समाज को, उन्होंने अत्यन्त निकट से देखा और समझा था। अपने युग और समाज एवं उसकी परिस्थितियों के प्रति जागरूक होने के कारण उनका काव्य एक ओर सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है तो दूसरी और समाज को दिशा देने का कार्य भी सम्पन्न करता है। तिरुवल्लुवर के काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति एक सहज प्रक्रिया के रूप में हुई है। अपने स्पष्ट-चिन्तन, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन की स्वाभाविक प्रक्रिया के फलस्वरूप इनके काव्य में समाज का चित्रण अपने युग की चेतना को अभिव्यक्त करने वाला युग-प्रतिनिधि है। तिरुवल्लुवर ने गृहस्थ की पूर्व-भूमिका के रूप में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण अथवा पूर्वराग का उल्लेख किया है।

पूर्व-राग

तिरुवल्लुवर ने तमिल के परम्पराश्रित ढंग से प्रेम के दो रूपों को स्वीकार किया है। पूर्व-राग एवं दाम्पत्य-प्रेम (क्रमशः कलवु एवं करपु)। पूर्वराग (कलवु) सम्बन्धित सामग्री के अध्ययन से तिरुवल्लुवर के समाज में व्याप्त विवाह-पूर्व प्रेम-जीवन का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। युवक-युवतियों को प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी पर यह स्वतन्त्रता होते हुए भी सामाजिक परिवेश पर्याप्त दृढ़ था और गन्धर्व-विवाह का सामाजिक अनुमोदन अत्यन्त सरल नहीं था। शारीरिक आकर्षण से बन्धे हुए युवक और युवती के हृदय में उत्पन्न अनेक भावों की अभिव्यक्ति करते हुए कवि ने युवती की स्वाभाविक लज्जाशीलता, उस मुग्धा की हिरणी के सदृश यौवन-दृष्टि तथा संकोच-युक्त दृष्टि में छिपे हुए आनन्द का उल्लेख किया है। प्रथम दृष्टि में ही प्रेम का उदय होता है पर लज्जा के कारण नायिका सिर झुका लेती है। जब नायक उसको

निहारता है तो वह पृथ्वी पर दृष्टि डालती है, जब उसका ध्यान हटता है तो उसकी ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्कान सरल, स्वाभाविक प्रकृत-प्रेम के विकास का आधार बनती है। जब नायिका सीधी दृष्टि से अपने आकर्षण के पात्र को देखने में स्वयं को असमर्थ पाती है तो नेत्र सिकोड़ कर मुस्काती है; अपरिचित के समान बातें करती हुई भी स्नेह-भीने शब्द बहुत कुछ कह देते हैं। नायक को नायिका के मधुर एवं कठोर शब्द तथा दृष्टि बाह्य रूप से अपरिचित प्रतीत होती है पर उसका हृदय नायिका के हृदय के स्नेह की सूचना प्राप्त कर ही लेता है। धीरे-धीरे यह आकर्षण विकास प्राप्त करता है; नायक के देखने पर नायिका मुस्काती है और उस क्षण उस कोमलांगी में नायक एक अनुपम सौन्दर्य की झलक प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया नयनों के नयनों से मिलने से पूर्ण होती है क्योंकि नयनों के नयनों से मिलते ही शब्दों की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। वह उसके नेत्रों, उभरे हुए वक्षस्थल, उज्ज्वल-मस्तक, वक्र-भृकुटि एवं सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है। इस प्रकार के वर्णन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि युवक-युवतियों के परस्पर एकान्त मिलन, आकर्षण और प्रेम की स्थिति विद्यमान थी और इसे अत्यन्त स्वाभाविक माना जाता है।

यह आकर्षण एकान्त-मिलन से विकास प्राप्त कर प्रेम का रूप धारण करता है। नायक-नायिका का शरीर-सम्बन्ध स्थापित होता है। शरीर का सम्पर्क एक विचित्र क्रिया है, निकट पहुंचने पर बाला की शरीराग्नि युवक के लिए शीतलता प्रदान करने वाली बनती है। युवक को अपनी प्रिया के सुकोमल स्कन्धों का आलिंगन विष्णुलोक के आनन्द से भी श्रेष्ठ दिखाई देता है। कल्पलता के समान ही पुष्प-गुंफित केश-युक्त बाला उसे इच्छित पदार्थ का विचार करते ही उन्हीं के समान आनन्द प्रदान करती है। नायिका के प्रत्येक स्पर्श में नायक को नवस्फूर्ति प्राप्त होती है। आलिंगन, अद्भुत शरीर-सुख एवं मानसिक उल्लास का आधार बनता है और फिर ऐसा आलिंगन कि मध्य में वायु भी न रह सके, दोनों को अतीव आनन्द प्रदान करता है। मनुष्य ज्यों-ज्यों अध्ययन करता है वह अपने अज्ञान से परिचित होता है, उसी प्रकार प्रत्येक बार स्वर्णाभूषिता के परिरम्भन से नवीन अनुभव नायक को होता है। उसे आलिंगनाबद्ध नायिका का शरीर अनिच्चम् (शिरीष) के पुष्प से अधिक कोमल प्रतीत होता है। उसके नेत्र कुमुदिनी से श्रेष्ठ, मुख चन्द्रमा से श्रेष्ठ और कोमल चरण अनिच्चम् पुष्प तथा हंस के पंखों से भी कोमल प्रतीत होते हैं। प्रेम-सम्बन्धों के स्वाभाविक विकास के इस प्रकार के अनेक चित्र तत्कालीन समाज के स्वतन्त्र चिन्तन एवं उल्लासमय जीवन का स्पष्ट प्रमाण हैं।

दाम्पत्य जीवन

तिरुवल्लुवर सामाजिक जीवन के लिए गृहस्थ की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। उनके युग के गृहस्थ एवं दाम्पत्य जीवन की स्थिति का अनुमान तद्विषयक कथनों से हो सकता है। गृहस्थ-जीवन समाज में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता था क्योंकि गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों में धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वालों के लिये स्थायी आधार होता है। गृहस्थ जीवन का निर्वाह करने वाले व्यक्ति के लिए अन्य मार्ग की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया जाता था क्योंकि नियमानुसार गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने वाला जीवन में प्रवृत्त सभी आश्रमवासियों से श्रेष्ठ माना जाता था। साधु, निर्धन, निराश्रित और मृतक का सहायक गृहस्थ ही था। गृहस्थ के प्रमुख कर्त्तव्यों में अतिथि-सत्कार, धन-संग्रह और सन्तान-प्राप्ति था।

सन्तान के पालन-पोषण पर अत्यधिक बल दिया जाता था। इसका लक्ष्य था निष्कलंक एवं सच्चरित्र नागरिक प्रस्तुत करना। बुद्धिमान सन्तान ही वास्तविक सम्पत्ति मानी जाती थी। पारिवारिक जीवन साधारणतया मधुर एवं उल्लासयुक्त होता था। शिशु की तोतली बोली, सन्तान का तन-स्पर्श, बच्चे के शिशु-हाथों द्वारा भोजन से खिलवाड़ इत्यादि परिवार में आनन्द और सुख की वर्षा करते थे।

पत्नी प्रायः धर्म-कार्यों में पति का साथ देती थी। पत्नी के प्रमुख गुणों में गृहस्थ को पति की आय के अनुसार संचालित करना, सुदृढ़ सतीत्व से युक्त रहना एवं अपनी मर्यादा को बनाये रखना था। पर सामाजिक जीवन में यदाकदा यह नियम भंग भी हो जाता था। पर-पुरुष अनुरक्ता स्त्री का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इस प्रकार की स्त्री का पति अपमानित करने वालों के समक्ष पुरुष-सिंह के समान ऊंचा शीश करके चलने में स्वयं को असमर्थ पाता है। परन्तु यह जन-जीवन का साधारण रूप न होकर निन्दनीय घटना के रूप में ही था। साधारणतया गृहिणी सद्गुण-सम्पन्ना, गृहस्थ की मर्यादा को बनाये रखने वाली ही होती थी। ऐसी स्त्री को गृहस्थ की मांगलिक शोभा स्वीकार किया गया है।

पत्नीतर प्रेम (निषिद्ध प्रेम)

तिरुवल्लुवर का समाज प्रायः गृहस्थ की मर्यादा का दृढ़तापूर्वक निर्वाह करता है, पर यदाकदा परस्त्री से प्रेम के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उस समाज में परस्त्री-अनुरक्त पुरुष एवं पर-पुरुष अनुरक्ता स्त्री का सम्मान नष्ट हो जाता था। अन्य की स्त्री के गृहद्वार

पर प्रतीक्षा करने वाला अधर्म-पथगामियों में सर्वाधिक मूढ़ माना गया है। अति सुलभ मानकर अन्य स्त्री पर आसक्त होने वाला स्थायी निन्दा का पात्र बनता था। दूसरे की पत्नी को कामेच्छा से निहारना मूल सदाचरण के विपरीत माना जाता था। इस प्रकार के मनुष्य को सामाजिक निन्दा के अतिरिक्त शत्रुता और पाप-भय का भी सामना करने के लिये तत्पर रहना होता था। धर्म-परायण गृहस्थ से वल्लुवर अन्य की धर्म-पत्नी में कभी भी आसक्त होने की आशा नहीं करते।

स्पष्ट है कि तिरुवल्लुवर के समाज में स्व-पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य की स्त्री से सम्बन्ध करना धर्म और सदाचार का उल्लंघन माना गया है। स्त्री से आशा की जाती थी कि वह पर-पुरुष में अनुरक्त न हो ; गृहस्थ की मर्यादा को अपने सतीत्व से बनाये रखे और पुरुष से भी आशा की जाती थी कि वह परस्त्री की ओर कामेच्छा से न देखे, पर-स्त्री के स्कन्धों का आलिंगन कर पाप का अधिकारी न बने। इस प्रकार के सम्बन्धों का दायित्व स्त्री और पुरुष दोनों पर होता है, इसलिए दोनों के लिए सामाजिक विधान उपलब्ध था। पर इस प्रकार के सम्बन्धों के विषय में समाज-निन्दा और पाप के भय के अतिरिक्त और किसी प्रकार के दण्ड-विधान का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

वेशभूषा, आभूषण, शृंगार-प्रसाधन आदि

तिरुवल्लुवर-काव्य के आधार पर यदि इस युग के इस पक्ष का अध्ययन करना चाहें तो दो प्रकार के आभूषणों का उल्लेख प्राप्त होता है। स्वर्णाभूषण और पुष्प-आभूषण। अपार प्राकृतिक वैभव एवं पुष्पों के भंडार से युक्त इस कृषि-प्रधान समाज में आभूषण प्रायः पुष्पों के होते थे। तिरुवल्लुवर ने नायिका के 'पुष्प-गुंथित केश' और अनिच्चम् (शिरीष) के पुष्प को केशों में धारण करने का वर्णन किया है। स्वर्ण आभूषणों में किसी आभूषण विशेष का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, पर स्त्रियां प्रायः सौन्दर्य-अभिवृद्धि के लिये स्वर्ण आभूषण धारण करती थीं, इसका संकेत 'स्वर्ण-कुण्डल भूषिता युवती', 'भूषण-भूषिता', 'स्वर्णाभरण भूषिता' इत्यादि से मिलता है। आभूषणों में सर्वाधिक प्रिय आभूषण चूड़ी था, चूड़ियां घनी और शृंखलाबद्ध पहनी जाती थीं। इनको सम्भवतः चमकीला बनाया जाता था। वल्लुवर 'प्रकाश-पूर्ण चूड़ियों से आभूषित बाला','माला जैसी शृंखलाबद्ध चूड़ियां', 'घनी चूड़ियों से युक्त मेरी प्रेयसी' का वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रसंगों में नायिका की चूड़ियों का वर्णन आया है। वियोग में शरीर की दुर्बलता का परिचय देने का कार्य भी चूड़ियों का ही है। सौन्दर्य-प्रसाधन में केवल काजल (अंजन) का वर्णन उपलब्ध है ; 'अंजन रंगित नयन' और प्रियतम के

नेत्रों में बसे होने के कारण काजल लगाने से भयभीत नायिका का वर्णन मिलता है। निश्चय ही अन्य सौन्दर्य-प्रसाधन भी रहे होंगे, पर उनका वर्णन तिरुक्कुरल में नहीं हुआ।

सामाजिक विभाजन

तिरुवल्लुवर के काव्य से सामाजिक विभाजन के दो प्रमुख रूपों की सूचना उपलब्ध होती है - गृहस्थ और संन्यासी। गृहस्थ जीवन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। नियमानुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य जीवन में प्रवृत्त सभी आश्रमवासियों से श्रेष्ठ माना गया है। गृहस्थ ही धर्म का पूर्ण रूप है ; स्नेह एवं धर्म से युक्त होने पर यह स्वयं ही अपना फल है। गृहस्थ की तुलना स्वर्ग के देवता के साथ की गई है।

गृहस्थ के प्रमुख कर्त्तव्यों में धर्म का पालन, साधु, निर्धन और निराश्रित मृतकों की सहायता, पाप से बचकर धन-संग्रह करना और परोपकार का उल्लेख आता है। इस प्रकार से गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने वाला तपस्वियों के जीवन से कहीं अधिक महान् माना गया है।

तपस्वी अथवा संन्यासी वेशधारी मनुष्यों का भी तिरुवल्लुवर ने उल्लेख किया है। संन्यासी के प्रमुख लक्ष्यों में 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करना, कामना का नियन्त्रण करना, पंचेन्द्रिय की वासनाओं का संहार और उनकी आधारभूत वस्तुओं का परित्याग, 'मैं' और 'मेरा' के अहंकार का दमन करना तथा बन्धन-मुक्त होकर भय से मुक्ति प्राप्त करना था। समाज में संन्यासी का पर्याप्त आदर-सम्मान था। तपस्वी के भोजनादि की व्यवस्था करने का दायित्व गृहस्थ पर था। तपस्वियों के दो रूप समाज में थे - (क) सत्य की आराधना करने वाले, तपस्या के आचरण से युक्त, (ख) ढोंगी तपस्वी।

सत्य मार्ग पर अग्रसर संन्यासी : सदाचरण को स्थिर रूप से धारण कर सत्य-मार्ग के पथिक संन्यासी समाज में सम्मान के अधिकारी बनते थे। दृढ़ता रूपी अंकुश द्वारा पंचेन्द्रिय रूपी हाथियों को वशीभूत करने वाले ये संन्यासी जन्म से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संन्यास ग्रहण करते थे। प्रायः माना जाता था कि संन्यासी, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के गुण-ज्ञाता हो जाते हैं। बन्धन-मुक्त होने की प्रबल कामना संन्यास का कारण बनती थी क्योंकि यह मान्यता थी कि जिन-जिन वस्तुओं से मानव बन्धन-मुक्त हो जाता है उन-उन वस्तुओं से उसे दुःख नहीं होता।

ढोंगी तपस्वी : अन्तःकरण में बन्धन-मुक्त हुए बिना ही त्यागी का ढोंग रचने वाले पापाचारी लोगों का भी वल्लुवर ने उल्लेख किया है । इन वंचक तपस्वियों के विषय में उनका कथन है - बाहर से जंगली सेब के समान सुन्दर अरुणवर्ण से युक्त दीखते हुए भी हृदय के काले व्यक्ति संसार में अनेक हैं । तपस्वी वेश में दुराचारी उस बहेलिये के सदृश माना गया है जो झाड़ी में छिपकर, जाल बिछाकर पक्षियों को पकड़ता है । इस प्रकार के ढोंगी तपस्वियों की स्थिति पापाचार मन में रख, परम तपस्वी के समान तीर्थ-स्नान करके दुष्ट-प्रवृत्ति में लीन व्यक्ति के समान है । सामाजिक दृष्टि से सत्कर्म और दुष्कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति का अन्तर अधिक कठिन नहीं था । वल्लुवर इन दो प्रकार के तपस्वियों में भेद करने का आधार उनका आचरण ही मानते हैं । बाण सीधा होने पर भी कर्म में निर्दय होता है, पर वीणा (याळ्) टेढ़ी होने पर भी कर्म में मधुर होती है । इसी प्रकार मानव को उसके कर्म से जानना चाहिए । अन्तःकरण की शुद्धि और सत्कर्म के पथ पर चलना तपस्वी के लिए अनिवार्य लक्षण माने जाते थे ।

भोजन-पान

तिरुवल्लुवर का समाज मूलतः कृषि-प्रधान समाज है । उस कृषि-प्रधान समाज में खाद्य-सामग्री की यथोचित उपलब्धि है । समाज में शाकाहार और मांसाहार दोनों प्रचलित थे परन्तु मांसाहार समाज में प्रायः स्वीकृत नहीं था । इसके मूल में अहिंसा और धर्म की प्रवृत्ति रही होगी । मांसाहार-निषेध प्रसंग में वल्लुवर अहिंसा को धर्म का अंग मानते हुए मांसाहार को अधर्म मानकर उसका पूर्ण निषेध करते हैं । पशु-मांस के विक्रय का संकेत कुरल 256 से प्राप्त होता है : "भक्षण के लिए लोग यदि मांस क्रय न करें तो मांस विक्रय करने वाला भी कोई न रहेगा ।" मांस-भक्षण के विरोध में वल्लुवर कहते हैं - अपने मांस की वृद्धि के लिये दूसरे प्राणी के शरीर का भक्षण करने वाला दयावान कैसे हो सकता है ? जीव-हत्या एवं मांस-भक्षण न करने वाला आदर और सम्मान का अधिकारी बनता है । इन कथनों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज में यद्यपि मांसाहार भी प्रचलित था पर उसके विरोध में प्रबल जनमत विद्यमान था । सम्भवतः सामाजिक विकास की प्रक्रिया में जैन, बौद्ध और अहिंसा पर बल देने वाले अन्य धर्मों के उत्तरोत्तर प्रवेश से यह दृष्टि विकास प्राप्त कर रही थी।

मद्यपान : मद्यपान सामाजिक जीवन की एक कुरीति के रूप में विद्यमान था। इसका संकेत 'मद्य-निषेध' (कळ्ळुण्णामै) अध्याय से प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में वल्लुवर के कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मद्यपान के विरोध में भी जनसमाज का

एक प्रबल वर्ग था। मद्य से होने वाली बुरी दशा देखकर ही कई लोग मद्यपान से दूर रहते थे। धन देकर मद्य मोल लेने का उल्लेख वल्लुवर ने किया है, इससे मद्य के विक्रय का प्रमाण मिलता है। 'मद्यप स्व-नियंत्रण खो बैठता है; समाज में आदर और सम्मान से वंचित हो जाता है। उसे अपने शरीर की सुध-बुध नहीं रहती और वास्तव में यह मद्य नहीं, विष का पान करता है। ' इस प्रकार के कथनों से मद्यप और मद्यपान के प्रति समाज में व्याप्त विरोधी-दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है।

कुछ लोग चोरी-छिपे मद्यपान करते थे पर नगर के लोगों को जब यह ज्ञात होता था तो वे छिपे-छिपे हँसते थे। शरीर की विस्मृति और मानसिक सन्तुलन के अभाव में इस प्रकार के मनुष्यों को तर्क द्वारा उचित मार्ग पर लाना प्रायः सम्भव नहीं था। वल्लुवर का कथन है कि मद्यपान किये हुए व्यक्ति को कारण दिखाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयास करना जल के नीचे डूबे हुए व्यक्ति को दीपक लेकर ढूंढने के समान होता है। मद्यपान के भयंकर शारीरिक एवं मानसिक प्रभावों से वल्लुवर का समाज परिचित था पर इस प्रकार का कोई संकेत उपलब्ध नहीं जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि मद्य बेचने अथवा मद्यपान करने पर किसी प्रकार का वैधानिक बन्धन रहा होगा। यहां भी समाज में सम्मान-नाश और सम्भव शारीरिक-रोग मद्यपान की आदत के विस्तार को रोकने का कार्य करते थे।

सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियां

तिरुवल्लुवर के युग में सामाजिक जीवन सुगठित एवं सुनियोजित था। सामाजिक मर्यादा ही मनुष्य को नियंत्रित करने का उपाय था पर मानव-स्वभाव विचित्र है, वह कब किस प्रकार से कर्म करेगा यह कह पाना सम्भव नहीं और प्रत्येक समाज में जुआ, मद्यपान और वेश्यावृत्ति इत्यादि कुरीतियां न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती हैं। तिरुवल्लुवर ने अपने काव्य में जिस जागरूक रूप से सामाजिक जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान की है, उसे ध्यान में रख विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जुआ, मद्यपान और वेश्यावृत्ति - ये तीन प्रकार की कुरीतियां सामाजिक जीवन में विद्यमान थीं। मद्यपान का उल्लेख 'भोजन-पान' के अन्तर्गत किया जा चुका है।

जुआ : जुआ खेलने के लिए पांसे का प्रयोग होता था और इसके लिए कुरल 937 में द्यूतशाला का उल्लेख हुआ है। कवि का कथन है - अनेक मनुष्य पांसा, जुआघर और द्यूत-कौशल का अभिमान करते हैं पर अन्त में सभी कष्ट को प्राप्त करते हैं। लुढ़कने वाले पांसे और जुआघर का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है। जुए के व्यसन

से शत्रु द्वारा धन छीने जाने का उल्लेख भी मिलता है। वल्लुवर ने जुए को सम्मान नष्ट करने वाला, पैतृक सम्पत्ति और सदाचार का नाश करने वाला माना है। वस्त्र, धन, भोजन, यश और विद्या - ये पांचों जुए में हाथ डालने वाले के पास नहीं फटकेंगे। उनका स्पष्ट मत है कि विजय ही क्यों न प्राप्त हो, जुए की इच्छा न रखो, क्योंकि यह विजय बंसी के लोहे को मछली द्वारा निगलने के समान होती है। जुए में ज्यों-ज्यों धन जाता है, मोह की वृद्धि होती है और यह धन का नाश करके, असत्य-भाषण करवा कर हृदय को भी भ्रष्ट कर विपत्तियों को प्रस्तुत कर देता है।

समग्रतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज में कुछ व्यक्ति इस कुवृत्ति के कारण कष्ट प्राप्त करते थे, उनकी धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाती थी और वे अपयश के भागी बनते थे। मद्यपान, जुआ, वेश्यावृत्ति इत्यादि के विषय में किसी प्रकार के दण्ड-विधान का उल्लेख न होने का कारण स्पष्ट है - वल्लुवर का काव्य नीति-शास्त्र है, धर्म-शास्त्र नहीं। वह स्वस्थ सिद्धान्तों का वर्णन करता है, उचित-अनुचित का संदेश देता है, उसके विधि-निषेध और दण्डादि की व्यवस्था नहीं करता।

वेश्यावृत्ति : वेश्याओं के प्रचुर संकेत वल्लुवर-काव्य में मिलते हैं। यह शरीर-विक्रय का कार्य प्रायः धन-प्राप्ति के उद्देश्य से होता था। वेश्या पर्याप्त चतुर और अपने उद्देश्य में प्रवीण होती थीं। मधुर-भाषण, नृत्य और गान की कला में प्रवीण, सौन्दर्य-प्रसाधन में चतुर ये स्त्रियां शरीर-विक्रय के साथ-साथ धन को सर्वाधिक महत्व देती थीं। वेश्या को समाज में किसी प्रकार का स्थान प्राप्त नहीं था। वल्लुवर ने जिस शब्दावली में वेश्या से दूर रहने का उपदेश दिया है, वह अपेक्षाकृत कठोर है और यह इस बात का संकेत है कि इस प्रथा को सामाजिक जीवन के लिए किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं माना जाता था पर दोषारोपण पूर्णरूपेण वेश्या पर ही हुआ है। उसे आचरणहीन, उभय-हृदयवाली स्त्री, मायाविनी, मोहिनी और सामान्य-स्त्री, धनलोलुप इत्यादि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। वेश्या के साथ भोग करने वाले मनुष्यों को अज्ञानी, पतित और दुर्बल-हृदय कहा गया है। उनके मतानुसार ज्ञान-सम्पन्न विशिष्ट बुद्धिमान, सामान्य-स्त्री के तुच्छ सौन्दर्य का स्पर्श न करेंगे। वेश्या, मद्य और जुए से उसी व्यक्ति का सम्पर्क होता है जिसे लक्ष्मी परित्यक्त करती है। सामाजिक सम्मान और मर्यादा के नाश का भय अवश्य रहता होगा पर ये कुरीतियां समाज में वर्तमान थीं और विचारकों के लिए यह चिन्ता का विषय था, ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

औषधि

आयुर्वेद की प्रणाली का सम्यक् विकास इस युग में हो चुका था। तिरुवल्लुवर ने इस विषय को काव्य में वर्णन करने योग्य समझा और तत्सम्बन्धी अध्ययन का परिचय दिया, यह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि समाज में रोगादि के कारणों और निदान पर पर्याप्त विचार हो चुका था। वैद्यक-शास्त्र का वर्गीकरण चार भागों में किया गया है- रोगी, वैद्य, औषधि और उसे देने वाला। रोगी का परीक्षण कर वैद्य औषधि का निर्णय करता था। औषधि तैयार कर उसे रोगी को देने का कार्य किसी अन्य प्रशिक्षित व्यक्ति का था। रोग का प्रमुख कारण वात, पित्त और कफ़ में से किसी का अधिक अथवा कम होना माना जाता था। वैद्य का दायित्व था कि वह बीमारी का पता लगाए, उसके कारण को समझे और उसके निग्रह का उपाय खोज कर उसके अनुकूल उपचार करे। इस समस्त प्रक्रिया में रोगी की आयु, रोग की मात्रा और काल का ध्यान रखना आवश्यक माना जाता था। इससे स्पष्ट है कि वल्लुवर का समाज भैषज-शास्त्र से परिचित था। इसके अतिरिक्त रोग से बचने के उपायों में सबसे अधिक प्रमुखता 'मित-भोजन' को दी जाती थी। खाए हुए भोजन के पच जाने पर ही भोजन करना, भूख लगने पर मात्रा का ध्यान रखकर भोजन करना, उपयुक्त पदार्थ का सेवन करना, स्वास्थ्य-सुख की रक्षा और दीर्घजीवी होने का मार्ग माना गया है। औषधियों का वर्णन तिरुक्कुरल में नहीं मिलता।

कृषि-प्रधान समाज

वल्लुवर-काव्य में जिस समाज का चित्रण हुआ है वह सम्पन्न कृषि-प्रधान समाज है। सामाजिक जीवन की विविधताओं को अभिव्यक्ति देने का कवि ने कोई क्रमबद्ध प्रयास नहीं किया, पर 'कृषि' (उळवु) तथा 'वर्षा का महत्व' (वान्-चिरप्पु) के अन्तर्गत वल्लुवर ने समाज के कृषि-प्रधान होने और कृषि के लिए वर्षा पर निर्भर करने के पर्याप्त संकेत दिये हैं। कृषि के विषय में वल्लुवर कहते हैं - संसार कुछ भी करता फिरे, हल पर ही आश्रित है अतएव कष्टप्रद होने पर भी कृषि-कर्म ही श्रेष्ठ है। कृषक समस्त संसार के लिये धुरी के समान है, क्योंकि यही अन्य सभी का भार वहन करता है। कृषकों का जीवन ही जीवन है, अनेक छत्रों की छाया से युक्त सम्राट भी अन्न की फली की छाया में रहने वाले कृषक पर निर्भर करता है। गृहस्थ ही नहीं, त्यागी, संन्यासी भी कृषक-आश्रित है। जुताई, खाद डालना, अनावश्यक घास-पात को नष्ट करना, सिंचाई और सुरक्षा आदि के क्रमिक महत्व से वल्लुवर का समाज पूर्णतया परिचित था।

इस सम्बन्ध में श्रम के महत्व का पर्याप्त प्रतिपादन कवि ने किया है। एक कथन है - 'अपने हाथ में कुछ नहीं - ऐसा समझ कर जो आलस्य करे उसे देख धरती रूपी सुन्दरी-वधू मन-ही-मन हँसेगी।'

तिरुवल्लुवर ने 'प्रभु-वन्दना' के तुरन्त उपरान्त 'वर्षा के महत्व' का उल्लेख किया है। इसका स्पष्ट कारण वर्षा और जीवन का निकट सम्बन्ध ही है। उनका कथन है - संसार का अस्तित्व वर्षा पर आधृत होने के कारण वही संसार की सुधा कहलाने योग्य है। वर्षा के अभाव में कृषि-कर्म के रुकने का उल्लेख हुआ है। जलद के जल के अभाव में असीम समुद्र के सूखने का भय, वर्षा के अभाव में विशाल वसुधा से दान और तपस्या का सम्भव लोप और संसार में जीवन का सम्भावित अन्त इत्यादि के द्वारा वर्षा के महत्व की स्वीकृति ही मिलती है। कृषि के वर्षा पर निर्भर होने के कारण जीवन का वर्षा-आश्रित होना स्वाभाविक है। प्रभुप्रदत्त होने के कारण प्रभु-वन्दना के तुरन्त बाद इस विषय को कवि ने प्रस्तुत किया है। तिरुकुरल के प्रसिद्ध टीकाकार मनक्कुडवर का यही मत है।

सामाजिक जीवन के ये चित्र वल्लुवर के चिंतन के व्यावहारिक पक्ष का उद्घाटन करते हैं तथा उनके क्रमबद्ध, व्यवस्थित 'काव्य-मय' चिन्तन के माध्यम से प्राचीन तमिल-प्रदेश के जीवन का प्रामाणिक रूप उपलब्ध कराते हैं। वल्लुवर एक आदर्श समाज का आधार स्पष्ट करते हैं जहाँ सद्भाव, भ्रातृभाव एवं आदर्श मानवीय मूल्यों पर आधारित जीवन हो अतः वे मद्यपान, वेश्या-प्रथा, द्यूतक्रीड़ा इत्यादि को अस्वीकार कर, धर्म-आधृत जीवन का मार्ग स्पष्ट करते हैं।



तिरुवल्लुवर एवं भारतीय चिन्तन - भावसाम्य के आधार

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अखण्ड है । राष्ट्रीय एकता का आधार सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता होती है । भिन्नत्व में एकत्व का परिचय भारत-देश की वर्तमान परिस्थितियों की अनिवार्य आवश्यकता है । भाषा, रचनाकाल एवं भौगोलिक वैविध्य के रहते हुए भी महाभारत, मनुस्मृति एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनेक अंशों में भाव-साम्य है तो यह स्पष्टतः इस एकत्व का प्रमाण है । तटस्थ, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार कर साम्य-विषयक अंशों को यहां प्रस्तुत किया गया है । इससे हम उत्तर एवं दक्षिण की विचारधारा में विद्यमान सांस्कृतिक एवं दार्शनिक एकता का अनुभव कर सकते हैं । निश्चय ही इन ग्रंथों में विपरीत भाव के अंश भी खोजे जा सकते हैं पर 'साम्य' का उद्घाटन ही हमारा लक्ष्य है ।

பகல்வெல் லும் கூகையை காக்கை இகல்வெல் லும்
வேந்தர்க்கு வேண்டும் பொழுது.

पहलूवेल्लुम् कूहैयैक् काक्कै इहलूवेल्लुम्
वेन्दर्क्कु वेण्डुम् पोलुदु । (कुरल, 481)

दिवस में काक उल्लू पर विजय प्राप्त कर लेता है। शत्रु पर विजय पाने के लिए नृप (नेता) को उपयुक्त अवसर की आवश्यकता होती है ।

तुलनीयः कालः श्रेयानित्येके । दिवा काकः कौशिकं हन्ति, रात्रौ कौशिकः काकमिति । (कौ. अर्थ. 9/135-136/4)

तिरुकुरल एवं महाभारत, तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति

तिरुकुरल एवं कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, निष्कर्ष ।

6

तिरुवल्लुवर और भारतीय चिन्तन

तिरुवल्लुवर और भारतीय चिन्तन

भारतीय चिन्तन की विशालता, गहनता और निरन्तरता के मूल में विद्यमान भावात्मक एकता को उद्घाटित करने का यहां प्रयास किया गया है। महाभारत, मनुस्मृति एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र के साथ किया गया यह अध्ययन भाव-साम्य दर्शाने वाले कुछ अंशों के माध्यम से अध्ययन की अनेक सम्भावनाओं का संकेत देता है। तिरुवल्लुवर और बिहारी-सतसई तथा तिरुवल्लुवर एवं कबीर विषयक अध्ययनों के रूप में शोधपूर्ण कार्य सम्पन्न हो चुका है। तिरुवल्लुवर के हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अनेक कवियों के संदर्भ में अध्ययन की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं। हिन्दी में अब 'तिरुक्कुरल' के उपलब्ध अनुवादों के माध्यम से इस दिशा में नवीन आशा का संचार हुआ है।

तिरुक्कुरल एवं महाभारत

महाभारत की महिमा जगत्-विख्यात है। अखिल-ज्ञान के भण्डार के रूप में इस ग्रंथ का भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में बहुत आदर है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता की दृष्टि से महाभारत भारतीय संस्कृति का विश्वकोष बन गया है। 'यन्न भारते तन्न भारते' की लोक-प्रचलित उक्ति इसी ओर संकेत करती है। तिरुक्कुरल में वर्णित धर्म, अर्थ, काम का महाभारत में आए तद्विषयक अंशों से अद्भुत साम्य है। दोनों महान् ग्रंथों में भारतीय सांस्कृतिक धारा का आकलन हो गया है। महाभारत अपनी विशालता के लिए प्रसिद्ध है, 'तिरुक्कुरल' संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्ति के लिये विख्यात है। यहां दोनों ग्रंथों के कुछ ऐसे अंश उद्धृत किये जा रहे हैं जिनमें भाव-साम्य प्रत्यक्ष है।

गृहस्थ-धर्म (इलवाळ्कै) शीर्षक के अन्तर्गत वल्लुवर का कथन हैः गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों में धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वालों का स्थायी सहायक होता है[1] । महाभारत में गृहस्थ के महत्व को स्वीकृत किया गया हैः

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥
एवं गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्त इतरेऽऽश्रमाः ॥[2]

(जिस प्रकार माता का आश्रय लेकर सब प्राणी जीवित हैं उसी प्रकार अन्य तीनों आश्रम गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर ही विद्यमान हैं ।)

वल्लुवर ने पूर्वज, देवता, अतिथि, बन्धु के लिए धर्मानुकूल निरन्तर कर्म करना गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य माना है ।[3] महाभारत के अनुसार :

देवतातिथिभृत्यानां पितृणां प्रतिपूजनात् ।[4]

संतति (मक्कट्पेरु) के सन्दर्भ में तिरुवल्लुवर कहते हैं -

संतान का अपने से अधिक बुद्धिमान होना विशाल भूतल के सभी मनुष्यों को आनन्द प्रदान करता है।[5] महाभारत में यह भाव निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त हुआ है -

एकमेव हि लोकेऽस्मिन्नात्मनो गुणवत्तरम् ।
इच्छन्ति पुरुषाः पुत्रं लोके नान्यं कथंचन ॥[6]

(मनुष्य इस लोक में अपने से अधिक गुणसम्पन्न एक ही पुत्र की कामना करते हैं । इससे इतर की कदापि नहीं ।)

प्रसन्नवदन से श्रेष्ठ अतिथियों का सत्कार करने वालों के गृह में लक्ष्मी का सानन्द निवास रहता है।[7] वल्लुवर का यह विचार महाभारत में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है -

सुमुखस्सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम् ।
स्वागेनासनेनाद्भिरन्नाद्येन च पूजयेत्॥[8]

(बुद्धिमान व्यक्ति प्रसन्नमुख और सुप्रसन्न मन से आये हुए अतिथि की स्वागतपूर्ण, आसन प्रदानकर, जल और अन्न देकर पूजा करे ।)

कृतज्ञता (चेयनूनरि अरिदल) के संदर्भ में वल्लुवर मानते हैं - 'मरण सदृश अति विषम उपकार करने पर भी अपकारी के पूर्वकृत एक अपकार का स्मरण उस उपकार को भुला देगा ।'[9] महाभारतकार की मान्यता भी यही है :

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥[10]

(पूर्व उपकार करने वाला यदि भारी अपराध भी करदे तो भी उस अपराधी का अपराध उपकार करके ही क्षमा कर देना चाहिए।)

मांसाहार-निषेध प्रसंग में वल्लुवर कहते हैं - 'मांस-भक्षण के लिए लोग जीवहत्या न करें तो मूल्य के लिए मांस-विक्रय करने वाला भी कोई नहीं रहेगा।[11] इस भाव को महाभारत का निम्न अंश अभिव्यक्त करता है ।

यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत् ।
घातकः खादकार्थाय तद्घातयति वै नरः ॥[12]

(यदि व्यक्ति (मांस) भक्षक नहीं होगा तो वह (प्राणी) घातक भी नहीं होगा। भक्षण के हेतु ही मनुष्य घातक होकर प्राणि-वध करता है।)

वल्लुवर तपस्या के महत्व का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि उमंग सहित तपस्या में लीन व्यक्ति के लिए 'यम' पर विजय प्राप्त करना भी सम्भव है।[13] महाभारत में इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है -

संचरन्ति तपो घोरं व्याधिमृत्युविवर्जिताः ।
स्ववशादेव ते मृत्युं भीषयन्ति च नित्यशः ॥[14]

(व्याधि और मृत्यु से रहित वे घोर तपस्या करते हैं और मृत्यु को अपने वश में करके वे सदैव मृत्यु को ही भयभीत करते हैं ।)

'सत्य' की व्याख्या वल्लुवर करते हैं, 'किसी प्रकार की हानि से रहित कथन को सत्य बोलना कहते हैं ।'
महाभारत के शान्ति पर्व में नारद का कथन है -

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं भवेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥[16]

(सत्य बोलना अच्छा है परन्तु सत्य से भी अधिक अच्छा है हितकर बोलना। मेरे अनुसार वास्तव में सत्य वही है जिससे प्राणियों का हित हो।)

अक्रोध (वेहुलामै) के अन्तर्गत वल्लुवर ने किसी पर भी अवस्थित क्रोध को भूलने का सन्देश दिया है, क्योंकि इससे अनिष्टकारी परिणाम ही उत्पन्न होते हैं।[17] महाभारत में क्रोध को त्यागने का उपाय जानने की कामना है :-

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत्कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥[18]

(इस लोक में क्रोध के कारण प्रजा का विनाश प्रायः देखा जाता है तो लोकनाशक इस क्रोध को मेरे जैसे व्यक्ति कैसे त्यागें ?)

'कोई अपनी रक्षा करना चाहे तो क्रोध से करे, अन्यथा क्रोध ही उसको मार डालेगा।'[19] वल्लुवर के इन वचनों की ध्वनि निम्नलिखित पद में है :-

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इतिविद्धि महाप्राज्ञ क्रोधमूलो भवाभवौ ॥[20]

(क्रोध ही मनुष्यों का मारक है और क्रोध ही उनका पुनः सृष्टिकारक है, इसलिए महाप्राज्ञ ऐसा समझो कि क्रोध ही सत् और असत् का मूल है।)

संन्यास (तुरवु) के अन्तर्गत वल्लुवर का कथन है - 'जिन-जिन वस्तुओं से मानव बन्धन-मुक्त हो जाता है, उन उन वस्तुओं से उसे दुःख प्राप्त नहीं होता।'[21]

यह भाव महाभारत के प्रस्तुत श्लोक में उपलब्ध है -

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत् ।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥[22]

(असार संसार के विषय में मनुष्य जितना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है उतना ही इसके प्रति विरक्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।)

इसी भाव की अभिव्यक्ति एक अन्य स्थल पर भी हुई है -

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥[23]

(मनुष्य जहां जहां से निवृत्त होता जाता है वहीं वहीं से विमुक्त होता जाता है, क्योंकि सब प्रकार से निवृत्त हो जाने के कारण मनुष्य लेशमात्र भी दुःख नहीं भोगता ।)

कुरलकार का मत है - बन्धनमुक्त होने पर ही भव से मुक्ति प्राप्त होगी अन्यथा जन्म-मृत्यु की अस्थिरता बनी रहेगी।[24] महाभारतमें उल्लेख है -

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेतिसाम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतामत्येति पञ्च वै ॥[25]

(प्रारब्ध कर्म का सेवन करके मनुष्य देवताओं के साथ साम्य प्राप्त कर लेता है किन्तु निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ तो भौतिकता का अतिक्रमण कर जाता है ।)

तिरुवल्लुवर प्रश्न करते हैं - 'भाग्य से बढ़कर शक्ति कौन है ?'[26] उत्तर महाभारत में निर्दिष्ट है - 'दैवं तु बलवत्तरम्'।[27] तिरुवल्लुवर के अनुसार 'मैं' और 'मेरा' के अहंकार का जो दमन कर डाले वह देवताओं में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करेगा ।[28] महाभारत में यह भाव इस रूप में व्यक्त हुआ है -

ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः ।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥[29]
एवं निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥[30]

(विशुद्ध ध्यान योग के द्वारा 'मम' और 'अहं' भाव से रहित हुए महापुरुष उत्तम महान् लोक को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार ममत्व और अहंकार रहित व्यक्ति मुक्त हो जाता है इसमें कोई संशय नहीं ।)

भाग्य (ऊळ) अध्याय के अन्तर्गत तिरुवल्लुवर का कथन है -

धन-प्राप्ति के सौभाग्य से परिश्रम प्रकट होता है और विसर्जन के दुर्भाग्य से आलस्य ।[31] इसी विचार की अभिव्यक्ति महाभारत में निम्न ढंग से हुई है -

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचित् दातुमर्हति ॥[32]

(किया हुआ पुरुषार्थ भाग्य का अनुवर्तन करता है । पुरुषार्थ के न करने पर तो दैव भी किसी को कुछ प्रदान नहीं कर सकता ।)

इसी प्रकार के अन्य सन्दर्भों का भी उल्लेख किया जा सकता है ।

वल्लुवर के अनुसार 'धन खोने का दुर्भाग्य मनुष्य को मन्द-बुद्धि और धनोपलब्धि का सौभाग्य उसे विशाल बुद्धि बना देगा ।[33] यही भाव महाभारत में इस प्रकार उपलब्ध है -

बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ।
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ।।[34]

(हे भारत ! भाग्य के अनुकूल होने पर बल, बुद्धि, तेज एवं ज्ञान सभी बने रहते हैं, लेकिन प्रतिकूल होने पर सब विनष्ट हो जाते हैं ।)

वल्लुवर कहते हैं कि भाग्य के फलस्वरूप संसार का स्वभाव दो प्रकार का है। एक है सम्पत्ति-सम्पन्नता और दूसरा है सद्ज्ञान-सम्पन्नता ।[35]

महाभारत में इसी विचार को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है -

न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः ।
विधिपर्यागतानर्थान् प्रज्ञावान्प्रतिपद्यते ।।[36]

(प्रज्ञा दैव (भाग्य) को विनष्ट नहीं करती अपितु दैव (भाग्य) प्रज्ञा को ग्रस लेता है। दैव द्वारा प्रदत्त पदार्थों को ही प्रज्ञावान् प्राप्त करता है ।)

महाभारत एवं तिरुक्कुरल में भाव-साम्य के अनेकानेक स्थलों में से कुछ और अंश यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

तिरुक्कुरल : 'धर्मज्ञ व अपने से बड़े ज्ञानी पुरुषों की मित्रता उनकी महानता को समझ कर यथानुसार प्राप्त करो।'[37]

महाभारत : गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये ।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ।।[38]

(धर्मानुसार राष्ट्र का पालन करता हुआ राजा उन लोगों से मिलकर रहे जो गुणवान् परम उत्साही, धर्मज्ञ और सज्जन हैं।)

तिरुक्कुरल : 'इच्छित कर्म की शक्ति, अपनी शक्ति, शत्रु की शक्ति, दोनों के सहायकों की शक्ति को तोल कर ही उक्त कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए ।'[39]

महाभारत : सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः।
जानन्विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥[40]

(जो बुद्धिमान व्यक्ति अपने और शत्रु के सार, असार, बल और पराक्रम को जानकर कार्य करता है वह पराभव को प्राप्त नहीं होता ।)

तिरुक्कुरल : सैन्य, प्रजा, धन, अमात्य, मित्र, दुर्ग - ये छहों जिसके पास हों वह राजाओं में पुरुष-सिंह के समान होता है।-[41]

महाभारत : आत्मामात्यश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ।
तथा जनपदश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥[42]

(हे कुरुनन्दन ! आत्मा, अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद एवं पुर - इन सातों से युक्त राज्य का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए ।)

तिरुक्कुरल : गहरे जल के भीतर मगरमच्छ सबको जीतने में समर्थ है पर जल से बाहर उसे पराजय ही प्राप्त होगी । [43]

महाभारत : नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥[44]

(अपने स्थान पर स्थित मगरमच्छ गजेन्द्र को भी जीत सकता है किन्तु अपने स्थान से भ्रष्ट हुआ वह एक कुत्ते द्वारा भी पराजित कर दिया जाता है ।)

तिरुक्कुरल : राजा वही है जो शासन नीति से च्युत न होते हुए राज्य से अधर्म को हटा कर अपनी वीरता को सम्मान से बनाए रखे । [45]

महाभारत : अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां चैव सत्वजिज्ञासां साध्वसाधु च सर्वदा ॥[46]

(हे राजन् ! तुम सदा प्रमाद-रहित होकर क्षमा, बुद्धि, धृति के सहारे प्राणियों की शक्ति जानकर साधु और दुष्टों का अनुशासन करो ।)

तिरुक्कुरल : 'अभिमान, क्रोध व विषयवासना के दोषों से रहित व्यक्ति अधिकाधिक वैभव-सम्पन्न होते जाएंगे ।'[47]

महाभारत : एतेभ्यो नित्ययुक्तः स्यान्नक्तं चर्यां च वर्जयेत् ।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥[48]

पूर्वप्रसंग : *(दंडित सेवक, स्त्री-विषय, हाथी, घोड़े और सर्पों के निकट से बचे) ; (जो कदापि इन सबसे युक्त रहना पड़े तो भी रात्रि के समय इनके संग का त्याग करे और अतिलोभ, अभिमान तथा क्रोध का त्याग करे।)*

तिरुक्कुरल : 'कोई स्वयं अपनी रक्षा करना चाहे तो क्रोध से रक्षा करे,अन्यथा क्रोध ही उसको नष्ट कर देगा।'[49]

महाभारत : किन्तु रोषान्वितो जन्तुर्हन्यादात्मानमात्मना ।
यो हि संहरते क्रोधं भावस्तस्य सुशोभने ।
यो न संहरते क्रोधं तस्याभावो भवत्युत ॥।[50]

(किन्तु रोष से युक्त प्राणी स्वयं ही स्वयं को नष्ट कर देता है। हे सुशोभने! जो क्रोध का संहार कर लेता है वह तो जीवित है और जो क्रोध को नियंत्रित नहीं कर पाता, वह विनष्ट हो जाता है।)

तिरुक्कुरल : 'मन में क्रोध को स्थान न दो तो सभी इच्छित वस्तुओं की तुरन्त प्राप्ति होगी।'[51]

महाभारत : यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥[52]

(जो उत्पन्न हुए क्रोध का अक्रोध द्वारा निराकरण कर देता है, हे देवयानि! समझो कि उसने यह सम्पूर्ण विश्व जीत लिया है।)

तिरुक्कुरल : 'धर्मों में अतुलनीय अग्रिम स्थान अहिंसा का है। उसके अनन्तर 'असत्य न बोलना' उचित है।[53]

महाभारत : अहिंसा सर्वभूतानामेतत्कृत्यतमं मतम् ।[54]
तथा अनृतं तु भवेद्वाच्यं न तु हिंसा कदाचन ।[55]
तथा सत्यं धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवोजनाः ।
यत स्यादहिंसासंयुक्त स धर्म इति निश्चयः ॥[56]

(अहिंसा सभी प्राणियों के लिए श्रेष्ठ कृत्य माना गया है। असत्य चाहे बोल दे किन्तु हिंसा कदापि न करे इसी प्रकार सत्य ही धर्म है ऐसा कुछ लोग कहते हैं किन्तु अनेकों के अनुसार अहिंसा से युक्त ही धर्म है।)

इस प्रकार के अध्ययन से भारत की सांस्कृतिक एकता का जो चित्र उभर कर हमारे समक्ष आता है वह वर्तमान युग में एक प्रबल आवश्यकता है। महान् विभूतियों का चिन्तन, आदर्श की स्थापना द्वारा मानव-मात्र के मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। तिरुक्कुरल एवं महाभारत में भारतीय जीवन एवं संस्कृति की सफल अभिव्यक्ति हुई है। उपर्युक्त प्रकरण इस सांस्कृतिक ऐक्य का संकेत-मात्र देने का एक लघु प्रयास है। दोनों ग्रंथों के इस पक्ष का विस्तृत विवेचन भावी शोध का सम्भव विषय है।

तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति

तिरुवल्लुवर-काव्य के अध्येताओं का विचार है कि तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति में पर्याप्त साम्य है। मनुस्मृति एवं तिरुक्कुरल दोनों ग्रंथों में कर्म-फल के सिद्धान्त में आस्था का भाव विद्यमान है। धर्म के मार्ग पर अग्रसर होने का एक लाभ श्रेष्ठ पुनर्जीवन अथवा जन्मचक्र से मुक्ति है।[57] कर्म-फल सिद्धान्त अपने व्यापकत्व के कारण समस्त भारतीय वाङ्मय में अनेक रूपों में समाहित हो गया है। तिरुक्कुरल एवं मनुस्मृति में साम्य का अध्ययन करने के लिए अनेक अन्य उदाहरण लिये जा सकते हैं -

धर्म के महत्व का वर्णन करते हुए वल्लुवर का कथन है - 'धर्म यशप्रद है और धनप्रद भी, अतः जीवन के लिए धर्म से श्रेष्ठ और कौन-सा पदार्थ है ?'[58] इस कुरल में 'चिरप्पु' (श्रेयस्) और 'चेलवम्' (प्रेयस्) की तुलना मनुस्मृति से की जाये तो अद्‌भुत साम्य दिखाई देता है:

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च'[59]

((धर्म) सुख का अभ्युदय करने वाला एवं कल्याण करने वाला है।)

गार्हस्थ्य जीवन के विषय में वल्लुवर का कथन है - 'वस्तुतः गार्हस्थ्य जीवन ही धर्म का पूर्ण रूप है और वह भी दोषारोपण से मुक्त हो तो फिर कहना ही क्या?'[60] मनुस्मृति में निम्नलिखित विचार प्रतिपादित है :

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥[61]

(इसलिए गृहस्थ ही प्रधान आश्रम है । क्योंकि अन्य तीनों आश्रमों में निवास करने वालों का ज्ञान एवं अन्न द्वारा पालन नित्यप्रति गृहस्थ के द्वारा ही होता है ।)

वल्लुवर कहते हैं - गृहस्थ अन्य तीनों आश्रमों में धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वालों का स्थायी सहायक होता है ।[62] मनुस्मृति का कथन है -

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥[63]

(जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर ही सब प्राणी जीवित हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर ही अन्य सब आश्रम विद्यमान हैं ।)

'वाळकैतुणैनलम्' अर्थात् जीवन-संगिनी के गुणों के अन्तर्गत स्त्री की मर्यादा का वर्णन करते हुए वल्लुवर ने माना है कि घर की दीवारों में स्त्री को मर्यादित रखना व्यर्थ है, उसकी वास्तविक मर्यादा तो उसका सतीत्व है।[64] मनु का तद्विषयक विचार भी यही है -

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥[65]

(विश्वसनीय पुरुषों द्वारा घर में अवरुद्ध (स्त्रियां) तो अरक्षित हैं । वास्तव में तो वे ही (स्त्रियां) सुरक्षित हैं जो स्वयं ही अपनी रक्षा कर लें ।)

इसी प्रकार, 'पयनिल चोल्लामै' अर्थात 'प्रलाप न करना' में वल्लुवर कहते हैं - 'व्यर्थ प्रलाप से दूसरों को अप्रसन्न करने वाला मनुष्य सभी द्वारा असम्मान प्राप्त करेगा।'[66] मनुस्मृति में कटु-भाषण, असत्य-भाषण, परोक्ष में किसी के दोष कहना एवं निष्प्रयोजन बात करना अशुभ माना गया है।[67] इन सभी का उल्लेख वल्लुवर ने भी किया है ।

मांसाहार-निषेध (पुलाल् मरुत्तल्) के संदर्भ में वल्लुवर का कथन है - अपने मांस की वृद्धि के लिए दूसरे प्राणी के शरीर का भक्षण करने वाला दयावान् कैसे हो सकता है ?[68] मनु-स्मृति में इस संदर्भ में कथन है -

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥[69]

इसी प्रसंग में कुरलकार का मत है - मनुष्य का सशरीर जीवित रहना मांसाहार निषेध के तत्व पर आधृत है, अतः मांसाहारी को नरक से भी मुक्ति नहीं मिलेगी।[70] इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाली मनुस्मृति की पंक्तियां इस प्रकार हैं :-

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥[71]

(मांस की उत्पत्ति एवं प्राणियों के वध एवं बन्धन के विषय में भलीभांति विचार करके सब प्रकार के मांस-भक्षण से दूर रहें।)

मांस-भक्षण की वर्जना वल्लुवर इस आधार पर भी करते हैं कि 'विश्लेषण करने पर समझें कि मांस दूसरे जीव का घाव ही है।'[72] इसी कारण 'मांस का भक्षण ही अधर्म है', [73] अतः निर्दोषबुद्धि वाले एक जीव के शरीर से पृथक् होकर आए हुए मांस का भक्षण नहीं करेंगे। मनुस्मृति में कथन है -

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥[75]

(प्राणियों का वध किए बिना तो मांस कहीं उत्पन्न नहीं हो सकता और प्राणियों का वध स्वर्ग प्राप्त कराने वाला नहीं अतः मांस का परित्याग कर देना चाहिए।)

तिरुवल्लुवर कहते हैं - घृत की आहुति देकर किए गए सहस्त्र हवनों से श्रेष्ठ है - जीवहत्या एवं मांस-भक्षण न करना।[76] मनु इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं-

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥

(जो व्यक्ति सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो मांस नहीं खाता है, उन दोनों के पुण्य का फल बराबर है।)

तिरुवल्लुवर आगे कहते हैं - जो अहिंसक हो और मांस न खाता हो, उसको सभी जीव करबद्ध प्रणाम करेंगे।[78] मनु का कथन अधिक विस्तार ग्रहण करता है, पर 'स लोके प्रियतां' विशेष तुलनीय है -

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ [79]

(जो पिशाच के समान विधि को छोड़ मांस नहीं खाता है वह लोक में प्रिय होता है और रोगों से पीड़ित नहीं होता)

तपस्या (तवम्) का वर्णन करते हुए वल्लुवर कहते हैं - जिस प्रकार स्वर्ण तपते-तपते निर्मल एवं प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार तपस्वी भी कष्ट से तपते-तपते निर्मल एवं ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है ।[80] मनु में यह भाव निम्नलिखित रूप में उपलब्ध है -

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।[81]

(जिस प्रकार तपाई गई धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं ।)

संन्यास (तुरवु) का महत्व प्रतिपादित करते हुए तिरुवल्लुवर मानते हैं कि बंधन-मुक्त होने पर ही भव से मुक्ति होगी अन्यथा अस्थिरता बनी रहेगी । [82] इसका कारण यह है कि 'बंधनयुक्त व्यक्ति को विविध प्रकार के दुःख बांध कर उसे कभी मुक्त न करेंगे ।'[83] मनु कहते हैं - निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ, पंचभूत का अतिक्रमण करता हुआ (पुनर्जन्म रहित होकर) मोक्ष प्राप्त करता है।[84]

राजा के गुणों का वर्णन करते हुए वल्लवुर का मत है - राजा वही है जो धन के सप्रयत्न उपार्जन, उसकी वृद्धि, रक्षा एवं वितरण में प्रवीण हो ।[85] मनु ने -

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्।।[86]

(अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा करे और प्राप्त की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे । रक्षित की वृद्धि करे और बढ़े हुए धन को सुपात्र में बांटे ।)

में राजा के लिए कहा है -'अप्राप्त को पाने की इच्छा करे, प्राप्त की यत्नपूर्वक रक्षा करे किए गए को बढ़ाये और बढ़ाये हुए को रक्षापात्र को दान कर दे।'

(कल्वि) 'शिक्षा' अध्याय में वल्लुवर कहते हैं :

-'पृथ्वी में कुआं जितना गहरा खुदेगा, उतना ही अधिक जल निकलेगा; एवम् मानव में जितनी ही शिक्षा अधिक होगी, उतनी ही बुद्धि तीव्र बनेगी।'[87] मनु में गुरु की सेवा करने वाले शिष्य के संदर्भ में आया है -

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रुषुरधिगच्छति ॥[88]

(जिस प्रकार फावड़े से खोदने पर मनुष्य जल को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार सेवा करने वाला गुरु के पास की विद्या को प्राप्त कर लेता है ।)

यहां भावसाम्य यद्यपि केवल अभिव्यक्ति में है, पर अत्यन्त आकर्षक है। सम्राट् से सहयोग(मन्नरैचेरन्दु ओलुकल्) शीर्षक से सम्राट के प्रति व्यवहार का विश्लेषण करते हुए तिरुवल्लुवर ने परामर्श दिया है - अल्पवयस्क अथवा बन्धु कहकर सम्राट का अपमान न कर अपनी स्थिति के अनुकूल मर्यादित व्यवहार करना चाहिए ।[89]

मनुका इस विषय में मत है कि राजा बालक हो तो भी उसे साधारण मनुष्य जानकर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह मनुष्य रूप में महान् देवता है ।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥[89क]

दूत के गुणों का विवेचन करते हुए तिरुवल्लुवर ने स्नेह- सम्पन्नता, कुलीनता, इच्छानुसार सदाचरण, तीक्ष्ण-बुद्धि, वाक्चातुर्य, विद्वत्ता एवं निर्भयता का उल्लेख किया है ।[90] मनु द्वारा दूत के लक्षणों में इन सब गुणों का आकलन हुआ है -

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्भवम् ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ [91]

(सभी शास्त्रों के विशारद, इंगित, आकृति की चेष्टाओं के ज्ञाता, पवित्र, चतुर और कुलीन दूत की नियुक्ति करे । अनुरक्त, पवित्र, चतुर, स्मरण-शक्तियुक्त, देशकाल को जानने वाले, सुन्दर, निर्भय वाक्कुशल राजदूत की ही प्रशंसा होती है ।)

तिरुवल्लुवर कहते हैं - 'अन्यायपूर्ण एवं विचारहीन शासन करने वाला नरेश धन एवं प्रजा से वंचित हो जाएगा।'[92] मनु का निम्नलिखित कथन ठीक इसी भाव की अभिव्यक्ति कर रहा है -

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥[93]

(जो राजा मोहवश और विचारहीनता या अविवेकपूर्वक अपने राष्ट्र को कष्ट देता है वह शीघ्र ही अपने राज्य और बन्धु-बान्धव सहित अपने जीवन से भी भ्रष्ट हो जाता है।)

तिरुवल्लुवर राजा को परामर्श देते हैं कि असीम दण्ड का भय दिखाकर भी मृदु-व्यवहार स्थायी समृद्धि प्रदान करता है।[94] मनु भी यही उचित मानते हैं -

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥[95]

(राजा कार्य के अनुसार तीक्ष्ण या कोमल हो। जो तीक्ष्ण भी हो और मधुर भी हो ऐसा राजा ही सम्मानित होता है।)

इन उद्धरणों का अधिक विस्तार न करते हुए इनसे उपलब्ध निष्कर्ष पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लुवर और मनु अनेक विषयों पर समान दृष्टिकोण अपनाकर चले हैं। इसके मूल में एक ही परम्परा एवं सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव है यद्यपि अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने मनुस्मृति का तिरुक्कुरल पर प्रभाव स्वीकार किया है, परन्तु प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत इस प्रश्न का विवेचन लक्ष्य नहीं रहा। तिरुवल्लुवर ने मनु से कुछ प्रभाव ग्रहण किया अथवा स्मृतिकार ने तिरुवल्लुवर से कुछ प्रभाव ग्रहण किया, इससे साहित्य एवं धर्म के विश्लेषण में कोई अन्तर नहीं आता। सच तो यह है कि दोनों ही अपनी परम्परा एवं संस्कृति से प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं। प्रभाव-ग्रहण विषयक प्रश्न का निर्णय इतिहासकार करें, दोनों ग्रंथों के साहित्यिक एवं सामाजिक साम्य का उल्लेख इस अध्ययन की विषय-सीमा है।

तिरुक्कुरल एवं कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्

अनेक विद्वानों ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि तिरुक्कुरल ग्रंथ के लिए तिरुवल्लुवर ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सामग्री का उपयोग किया है। इनमें श्री आर. सी. मजूमदार, श्री नीलकण्ठ शास्त्री, श्री के. एस. रामास्वामी शास्त्री, श्री वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितार, डॉ. पी. एस. सुब्रह्मण्यम् शास्त्री इत्यादि विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। श्री आर. सी. मजूमदार ने उल्लेख किया है कि लगभग समकालीन तमिल साहित्य में वर्णित राज्य-गठन इत्यादि की सामग्री अर्थशास्त्र से मेल खाती है।[96] श्री नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार राज्य (नाडु) के उपादानों के विषय में तिरुवल्लुवर की धारणाएं अर्थशास्त्र का पुनराख्यान हैं एवं अनेक स्थलों पर उनमें अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता है।[97] श्री रामास्वामी आयंगर का मत है कि 'यह स्मरण रहना चाहिए कि 'कुरल' में मात्र

दक्षिण-भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ अंशों का ही संकलन नहीं अपितु इसमें उत्तर-भारत के कौटिल्य-अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों का निचोड़ भी ग्रहण कर लिया गया ।'[98]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे अध्ययन का लक्ष्य इस प्रकार के किसी प्रभाव का विवेचन करना नहीं अपितु तिरुकुरल एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र में आए समान अभिव्यक्ति के कुछ अंशों का उल्लेख करके दोनों ग्रंथों के विचार-साम्य को प्रस्तुत करना मात्र है ।

तिरुकुरल में शक्ति (वलियरित्तल्), समय (कालम्अरित्तल्) एवं स्थल (इटन् अरित्तल्) तीनों को समान महत्व प्रदान किया गया है । शक्ति, देश और काल का उल्लेख करते समय कौटिल्य ने भी यही भाव अभिव्यक्त किया है - **'परस्पर साधका हि शक्तिदेशकालाः'** *(शक्ति, देश एवं काल परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं)*।[99] इसी प्रकरण में वल्लुवर का कथन है -

दिन के समय उलूक पर (उससे दुर्बल) कौआ विजय प्राप्त कर लेता है । शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सम्राट् के लिए तदनुकूल अवसर की आवश्यकता होती है।[100]

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित मत इससे अद्भुत साम्य रखता है - **'कालः श्रेयानित्येके। दिवा काकः कौशिकं हन्ति, रात्रौ कौशिकः काकमिति।'**[101]

(कुछ के मतानुसार काल ही श्रेष्ठ है । दिन के समय कौआ उलूक को मार देता है और रात्रि के समय उलूक कौए को नष्ट कर देता है ।)

परन्तु कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि शक्ति देश और काल एक-दूसरे के पूरक हैं ।

शिक्षा (कल्वि) के संदर्भ में वल्लुवर का कथन है - 'आवश्यक विषयों का निर्दोष-पूर्ण अध्ययन करना चाहिए । तदनन्तर उनके अनुसार व्यवहार करने में स्थिर रहना चाहिए।'[102] कौटिल्य का इस संदर्भ में कथन है -

विधानां तु यथास्वमाचार्यप्रामाण्याद्विनयो नियमश्च।[103]

(भिन्न-भिन्न विद्याओं के विशेषज्ञ आचार्यों के मतानुसार ही शिष्य का शिक्षण और नियमन होना चाहिए ।)

शक्ति का बोध (वलियरित्तल्) प्रसंग में वल्लुवर इच्छित कर्म की शक्ति, अपनी शक्ति, शत्रु की शक्ति तथा दोनों के सहायकों की शक्ति को तौल कर ही कर्म में प्रवृत्त

होने का[104] परामर्श देते हैं। कौटिल्य का **'शक्तिदेशकाल बलाबल ज्ञानं'** प्रसंग में कथन है-**'विजिगीषुरात्मनः परस्य च बलाबलं शक्तिदेशकालयात्राकालब-लसमुत्थानकालपश्चात्कोपक्षयव्यय 'लाभापदं ज्ञात्वा विशिष्टबलो यायात्। अन्यथासीत।**[105]

(विजय की इच्छा करने वाले को चाहिए कि वह अपने एवं शत्रु के (बीच) बलाबल को और शक्ति, देशकाल, (युद्ध) यात्राकाल, सेना की उन्नति का समय और बाद के कोषक्षय, व्यय, लाभ और आपत्ति आदि को भलीभांति जानकर विशिष्ट बल से युक्त होकर (अर्थात् शत्रु से अधिक सेना लेकर आक्रमण करे) चले, नहीं तो चुपचाप बैठा रहे।)

इसी संदर्भ में वल्लुवर आगे कहते हैं - अपने कर्म तथा उसके लिए आवश्यक बल को समझ कर उस पर दत्तचित्त होकर दृढ़ता-पूर्वक कार्य करने वाले के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।[106] कौटिल्य ने **'मन्त्रशक्तिः श्रेयसी। प्रज्ञाशास्त्रचक्षुर्हि राजा अल्पेनापि प्रयत्नेन मन्त्रमाधातुं शक्तः'** ।[107]

(मंत्रशक्ति श्रेष्ठ है; बुद्धि और शास्त्र रूपी नेत्रों वाला राजा अल्प प्रयत्न द्वारा भी परामर्श प्राप्त करने में समर्थ है।)

में बुद्धि और शास्त्र तथा प्रयत्न करने पर अच्छी प्रकार अनुष्ठान करने का उल्लेख किया है। दत्तचित्त होकर दृढ़तापूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना और अच्छी प्रकार अनुष्ठान करना एक ही स्थिति का द्योतन करने वाले प्रसंग हैं।

'तेरिन्दु तेलित्तल्' - 'विचारपूर्ण चुनाव' के अन्तर्गत वल्लुवर धर्म, अर्थ, काम व प्राणभय इन चारों का विचार करके ही किसी को कर्म के उपयुक्त मानने की बात कहते हैं।[108] कौटिल्य ने धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, एवं भयोपधा इत्यादि चार परीक्षाओं का उल्लेख किया है। विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त वह कहते हैं -

त्रिवर्गभयसंशुद्धानमात्यान् स्वपु कर्मसु ।
अधिकुर्याद् यथाशौचमित्याचार्या व्यवस्थिताः ॥[109]

(सभी प्राचीन अर्थशास्त्रज्ञ आचार्यों का यही मत है कि धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) और भय द्वारा परीक्षित शुद्ध अमात्यों को उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्यों में नियुक्त करें।)

दूत के लिये वल्लुवर का कथन है कि मरण-संकट में भी निर्भय हो अपने सम्राट को श्रीसम्पन्न कराने वाला,[110] विज्ञ, निडर, हृदयवेधक वक्ता एवं प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिए।[111] कौटिल्य ने इस विषय में विस्तृत विवेचन किया है। एक स्थल पर आया है -

शासनं च यथोक्तं ब्रूयात् प्राणाबाधेऽपि दृष्टे।[112]

(प्राणों का संकट उत्पन्न होने पर भी वह (दूत) अपने स्वामी का संदेश अविकल रूप में कहे।)

कुरलकार 'इरैमाट्चि' -'नरेश के गुणकर्म' के अन्तर्गत 'सैन्य, प्रजा, धन, अमात्य, मित्र एवं दुर्ग - इन छः से युक्त राजा को राजाओं में पुरुष-सिंह सदृश मानता है।[113] कौटिल्य कहते हैं -

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।[114]

(स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये सात प्रकृतियां हैं।)

तिरुवल्लुवर के अनुसार 'जिसके दर्शन सुलभ हों, जो कठोर वचन नहीं कहता हो, उस नृपतिके राज्य की प्रशंसा होती है।[115] कौटिल्य का लगभग यही भाव इस कथन में है -

उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारा-संगं कारयेत्।[116]

(जब राजा दरबार में हो तो वह प्रत्येक प्रार्थी को बेरोकटोक प्रवेश करने दे।)

राजा के विशिष्ट गुणों में तिरुवल्लुवर बुद्धिमत्ता, दान और उत्साह,[117] सतर्कता, विद्या तथा निर्भीक-प्रकृति,[118] दान, दया, धर्म-नीति और प्रजा-संरक्षण[119] का उल्लेख करते हैं। कौटिल्य ने इन गुणों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णन किया है :

'तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्'।[120]

(इसलिए राजा को चाहिए कि वह उद्योगशील होकर व्यवहार और राज्य-विषयक कार्यों का अनुशासन करे।)

इसके अतिरिक्त निम्न अंश द्रष्टव्य है :

राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।

नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥[121]

(राजा का व्रत है उत्थान, यज्ञकरना, अनुशासन करना, दक्षिणा देना, शत्रु और मित्र में गुण-दोष के अनुसार समान व्यवहार करना, एवं दीक्षा प्राप्त करके आये का अभिषेक करना ।

प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है; स्वयं का अभीष्ट करने में राजा का हित नहीं है, प्रजा का अभीष्ट ही राजा का हित है ।)

राजा एवं अधिकारी वर्ग के लिए तिरुवल्लुवर जिन दोषों से मुक्त रहने का उल्लेख करते हैं उनमें अभिमान, क्रोध, विषय-वासना, दानहीनता, अनुचित आनन्द, कृपणता इत्यादि महत्वपूर्ण हैं।[122] कौटिल्य ने इस विषय में यही परामर्श दिया है -

विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः ; कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः।

(इन्द्रियजय ही विद्या और विनय का हेतु है । काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, (असंयत) हर्ष और त्यागपूर्वक इन्द्रियजय करे ।)

एक अन्य स्थल पर तिरुवल्लुवर ने कहा है - प्राप्ति का सुअवसर प्राप्त हो तो असम्भव कार्य भी उसी समय कर लेना चाहिए ।[123] कौटिल्य के कथन-

'यदा वा प्रयातः कर्शयितुमुच्छेत्तुं वा शक्नुयादमित्रं तदा यायात्'[124]

(अथवा आक्रमण करने पर जिस समय अपने शत्रु को निर्बल बना सके अथवा उसका विनाश कर सके तब ही उस पर आक्रमण करना चाहिए ।)

में अभिव्यक्त भाव भी यही संकेत देता है । सुशासन (चेंगोणूमै) के अन्तर्गत वल्लुवर कहते हैं - ब्राह्मण के ग्रंथ एवं धर्म का मूल आश्रय सम्राट् का राजदण्ड है;[125] कौटिल्य का कथन-'पवित्र मर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रम-धर्म से नियमित और त्रयी-धर्म से रक्षित प्रजा दुःखी नहीं होती'[126] इसी भाव की अभिव्यक्ति भिन्न-रूप में करता है ।

इस प्रकार के अनेक प्रसंगों का संग्रह किया जा सकता है । इस संदर्भ में उल्लेखनीय साम्य को देखते हुए यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि इसके मूल में चिन्तन-पद्धति का साम्य है । भारतीय चिन्ताधारा के इन दो महान् चिन्तकों ने बाद की परम्परा को

अत्यधिक प्रभावित किया है। तिरुवल्लुवर सिद्धान्ततः 'अर्थ' को 'धर्म' द्वारा संचालित करते हैं, पर कौटिल्य में 'अर्थ' को प्राथमिकता मिली है ।

समग्रतः उपर्युक्त विवेचन इस धारणा को पुष्ट करता है कि भारतीय भाषाओं में व्याप्त चिंतनधारा में अद्भुत साम्य है और तिरुवल्लुवर-काव्य भी इसका अपवाद नहीं है । राष्ट्रीय भावात्मक एकता की भावना को पुष्ट करने का यह एक और सपक्त माध्यम है। उत्तर और दक्षिण की विचारधारा में विद्यमान इस सांस्कृतिक एवं दार्शनिक एकता से इस राष्ट्रीय भावना एवं सद्भाव को एक प्रबल सशक्त आधार मिलता है ।



संकेत स्पष्टीकरण

1. कुरल, 41
2. महाभारत (भण्डारकर),12/261/6।
3. कुरल, 43 ।
4. महाभारत, (भण्डारकर) अरण्य 199/4 ।
5. कुरल, 68 ।
6. महाभारत, द्रोण . 194/5
7. कुरल, 84 ।
8. महाभारत, आश्व., 92 ।
9. कुरल, 109 ।
10. महाभारत, वन. 28/26 ।
11. कुरल, 256 ।
12. महाभारत अनु. ।
13. कुरल, 269 ।
14. महाभारत अनु. ।
15. कुरल, 291 ।
16. महाभारत, (भण्डारकर) 12/316/13 ।
17. कुरल, 303 ।
18. महाभारत, (भण्डारकर) आरण्यक., 30/3 ।
19. कुरल, 305 ।
20. महाभारत, (भण्डारकर) आरण्यक., 30/1।
21. कुरल, 341
22. महाभारत, शांति., 227/99 ।

23. वही, उद्योग, 361/14 ।
24. कुरल, 349 ।
25. महाभारत, अश्व., 361/10 (देखें मनु. 12/90) ।
26. कुरल, 380 ।
27. महाभारत, कर्ण.; 22/31।
28. कुरल, 346 ।
29. महाभारत, अश्व., 51/22।
30. वही, 36/19।
31. कुरल, 371 ।
32. महाभारत, अनुशासनपर्व, 6/22।
33. कुरल, 372 ।
34. महाभारत, मौसल., 9/37।
35. कुरल, 374 ।
36. महाभारत ।
37. कुरल, 441।
38. महाभारत, शांति. (भण्डारकर) 66/16।
39. कुरल, 471 ।
40. महाभारत, शांति. (भण्डारकर),114/13।
41. कुरल, 381 ।
42. महाभारत, शांति. (भण्डारकर), 69/62/63 ।
43. कुरल, 495 ।
44. महाभारत ।
45. कुरल, 384 ।
46. महाभारत, शांति., (भण्डारकर), 92/42।

47. कुरल, 431; तुलनीय :

न हि कामात्मना राज्ञा सततं शठबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्याः पालियतुं प्रजाः।।
-महाभारत, शांति. (भण्डारकर), 76/14।

48. महाभारत, शांति., (भण्डारकर), 91/29।

49. कुरल, 305

50. महाभारत, वन 29/4

51. कुरल, 309 ।

52. महाभारत, आदि., 73/3।

53. कुरल, 323।

54. महाभारत, अश्व. 50/2।

55. महाभारत, कर्ण., 72/24।

56. महाभारत, कर्ण., 72/56,58।

57. "In the ethics of the Kural, as in those of the laws of Manu, the idea of reward has a place. The way of virtue is recommended because it leads to a better re-incarnation or to liberation from re-birth."
Indian Thought and Its Development-Albert Schweitzer, p. 201.

58. कुरल, 31 ।

59. मनुस्मृति, 12/88।

60. कुरल, 49 ।

61. मनुस्मृति, 3/78 ।

62. कुरल, 41 ।

63. मनुस्मृति, 3/77।

64. कुरल, 57 ।

65. मनुस्मृति, 9/12।

66. कुरल, 191 ।

67. पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि शर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ।

68. कुरल, 251 ।

69. मनुस्मृति,5/52।

70. कुरल, 255।

71. मनुस्मृति, 5/49 ।

72. कुरल, 257 ।

73. कुरल, 254।

74. कुरल, 258।

75. मनुस्मृति, 5/58।

76. कुरल, 259 ।

77. मनुस्मृति, 5/53 ।

78. कुरल, 260 ।

79. मनुस्मृति, 5/50 ।

80. कुरल, 267 ।

81. मनुस्मृति, 6/71।

82. कुरल, 349 ।

83. कुरल, 347

84. निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ।।मनु,12/90।

85. कुरल, 385

86 मनुस्मृति, 7/99।

87 कुरल, 396।

88 मनुस्मृति, 2/218।

89 कुरल, 698 ।

89 मनुस्मृति, 7/8 ।

90 तिरुक्कुरल, अध्याय 69 ।

91 मनुस्मृति, 7/63-64 ।

92 कुरल, 553 ।

93 मनुस्मृति, 7/111।

94 कुरल, 562 ।

95 मनुस्मृति, 7/140 ।

96 The Political data supplied by presumabl contenmporary Tamil Literature tally with th Aruthasastra.
-History and Culture of the Indian People Vol. II, p. 324

97 The Cholas, Nilakantha Sastri, p.79

98 Studies in South Indian Jainism

99 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 9/135-36/4।

100 कुरल, 481 ।

101 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 9/135-36/3।

102 कुरल, 391 ।

103 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 2/4/2।

106 कुरल, 472 ।

107 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 9/135-136/1/3।

108 कुरल, 501, 517, 518 ।

109 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 1/5/9/2 ।

110 कुरल, 690 ।

111 कुरल, 686 ।

112 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 1/11/15/2 ।

113 कुरल, 381 ।

114 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 6/96/1/2 ।

115 कुरल 386 ।

116 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 1/14/18/1।

117 कुरल, 382 ।

118 कुरल, 383 ।

119 कुरल, 380 ।

120 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 1/14/18/1।

121 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 1/14/18/4-5।

122 कुरल, 431, 432, 438 ।

123 कुरल, 489 ।

124 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, 9/135-136/1/6।

125 कुरल, 543 ।

126 व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥1/1/2/4।

संस्कृत, तमिल, हिन्दी की संक्षिप्त पुस्तक-सूची

तिरुवल्लुवर- तिरुक्कुरल उरैवलम् सं.	दण्डपाणि देसिकर सं.
तिरुवल्लुवर परिमेलळकर् उरै	प्र. पूमपुहार पिरुसुरम्
तिरुवल्लुवर इनबम्	भारती शुद्धानन्द
तिरुवल्लुवमालै	हस्तलिखित् (तंजीर पुस्तकालय, 131)
तिरुवल्लुवर वाळ्कै विलक्कम्	वरदराजन मु.
तिरुक्कुरल आरायच्चिप्पदिप्पु	प्र. रामकृष्ण मिशन, मद्रास
तिरुक्कुरल	नायुडू शंकरराजू एस.
तिरुक्कुरल	मु.गो. वेण्कटकृष्णन
तिरुक्कुरल	अनु. श्रीमती राजम् पिल्लै
तिरुक्कुरल	सेठ, रवीन्द्र कुमार डॉ.
तिरुवल्लुवर की वाणी	श्री टी. ई. एस. राघवन
तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन	सेठ, रवीन्द्र कुमार डॉ.
तमिल और हिन्दी काव्य-शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन	राजगोपालन न. व. डॉ.
तमिल वेद	श्री क्षेमानन्द 'राहत'
तमिल साहित्य और संस्कृति	श्री अवधनंदन
तमिल साहित्य	प्र. दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
महाभारत	सं. श्री विष्णु सुकथंकर, बेलवलकर एस. के. (भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट)

कौटिलीय अर्थशास्त्रम्	व्या. वाचस्पति गैरोला
बीस स्मृतियाँ	व्या. श्रीराम शर्मा आचार्य
तिरुक्कुरल नीति इलक्कियम्	तिरुनावुक्करसु के. टी.

Select Bibliography

A History of Tamil Language and Literature (Beginning to 600 AD)	Vaiyapuri Pillai S. Prof.
A History of Tamil Literature	Meenakshisundaram T.P. Prof.
A History of Tamil Literature	Jasudasan, C. & Jesudasan H.
A History of Tamil Literature	Varadarajan Mu
Aesthetics of the Tamils	Meenakshi Sundaran T.P.
Ancient World-A new Look	Ed. Mahaligam N.
First All India Tirukkural Research Seminar Papers	Ed. Sanjeevi N. Dr.
Indian Philosophy	Radhakrishnan S. Dr.
Indian Thought and its Development	Albert Schweitzer
Indian Thought Through the Ages	Gokhale, B.G.
Literary Heritage of the Tamils	Ed. Subramanian S.V. & Ghadigachalam N.
Philosophy of Tirukkural	Muthuraman, M.Dr.
Sacred Kural-The Kindly Light	Kamaliah K.C.
Some Contributions of South India to Indian Culture	Krishnaswamy Ayyangar S. Dr.
Studies in Kural	Sethu Pillai R.
Studies in Tamil Literature and History	Dikshitar Ramachandra V.R.
Tamil Polity	Rajalakshmi R.
Tamil Wisdom	Ed. Robinson Jewitt Edward
The Great Book of Tiruvalluvar	Rajagopalachari C.
The Kural	Lazarus, Dr.
The Kural or the Maxims of Tiruvalluvar	Tr. Aiyar, V.V.S.
The Mind and Thought of Tiruvalluvar	Appadurai K.
The Sacred Kural or the Tamil Veda of Tiruvalluvar	Tr. Popley, H.A.

The Tamils Eighteen Hundred Years Ago	Kanakasabhai V.
The Tamils and their Culture	Sastry Ramaswamy K.S.
The Tirukkural	*Vanmikanathan G.*
Tirukkural	Bharati Sudhananda Yogi
Tirukkural	*Thirumathi Sornammal* Endowment Lectures, University of Madras
Tirukkural	Tr. Pope G.U., Lazarus, Ellis.
Tirukkural of Tiruvalluvar	Ramachandra Dikshitar, V.
Tirukkural of Tiruvalluvar	*Tr. Balasubramanian* K.M. Tiruvachakmani
Tiruvalluvar	Maharajan, S.
Tiruvalluvar's Tirukkural	Rajgopal Aiyangar, M.R.
Voice of Valluvar	*Arasu*, S.R.V.

डॉ. रवीन्द्र कुमार सेठ

हिन्दी, तमिल, संस्कृत एवं पंजाबी के परिचित विद्वान् डॉ.रवीन्द्र कुमार सेठ पिछले लगभग 25 वर्षों से आस्थापूर्ण साधना के मार्ग पर अग्रसर हैं। साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय भावात्मक एकता के अनुष्ठान में लगे डॉ. रवीन्द्र सेठ ने तमिल भाषा और साहित्य को हिन्दी क्षेत्र में, हिन्दी-भाषियों के लिए प्रस्तुत कर स्नेह और सद्भाव का मार्ग प्रशस्त किया है। भारत के वर्तमान राष्ट्रपति महामहिम श्री आर. वेंकटरमण एवं उपराष्ट्रपति महामहिम डॉ. शंकरदयाल शर्मा तथा अनेक साहित्यकारों, पत्रकारों और विद्वानों ने आपके कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। दिल्ली विश्वविद्यालय के पी.जी.डी.ए.वी. (सांध्य) कालेज में वरिष्ठ हिन्दी प्राध्यापक डॉ.रवीन्द्र सेठ विभिन्न स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों एवं सम्मेलनों में ख्याति-प्राप्त डॉ.सेठ बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। तमिल हिन्दी-संगम के अध्यक्ष के रूप में आप तमिल और हिन्दी के मध्य एक सेतु का काम कर रहे हैं। आपका प्रकाशित शोध-प्रबन्ध, 'तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन' तुलनात्मक साहित्य की श्रेष्ठ उपलब्धि है। आप प्रकाशन विभाग, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'तिरुक्कुरल' एवं संस्कृत नीति के बृहत् संकलन एवं हिन्दी अनुवाद 'नीति-मुक्तावली' के लेखक हैं। डॉ. रवीन्द्र सेठ की प्रसिद्ध कृति 'सुब्रह्मण्य भारती' को राजभाषा विभाग, बिहार का अखिल भारतीय 'भारतीय भाषा-साहित्य पुरस्कार 1987' तथा 'तमिल वैष्णव कवि आऴ्वार' कृति को हिन्दी अकादमी, दिल्ली प्रशासन के 'श्रेष्ठ कृति पुरस्कार-86' द्वारा सम्मानित किया गया। प्रकाशन विभाग, भारत सरकार ने उनकी पुस्तक 'सुब्रह्मण्य भारती' का प्रकाशन किया है। 'भक्ति की प्रारम्भिक कृति-मुकुन्दमाला' आपकी एक अन्य चर्चित पुस्तक है। 'हिन्दी के तमिल विद्वान्' के रूप में प्रसिद्ध डॉ.रवीन्द्र सेठ की पुस्तक 'तमिल का प्राचीन साहित्य' को हिन्दी अकादमी, दिल्ली प्रशासन द्वारा 'श्रेष्ठ कृति पुरस्कार - 1989' द्वारा सम्मानित किया गया है। राष्ट्रीय भावात्मक एकता एवं तमिल साहित्य को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए उ० प्र० हिन्दी संस्थान द्वारा आपको 1989 के सौहार्द सम्मान से विभूषित किया गया है। 'अमुद सुरभि' नामक तमिल पत्रिका द्वारा 'तिरुवल्लुर-भारती' पुरस्कार तमिल-भाषियों के उस प्रेम का परिचायक है जो तमिल साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत कर डॉ. सेठ ने अर्जित किया है। उनकी कृति 'तमिल महाकवि-तिरुवल्लुवर' तमिल के प्राचीन ग्रंथ 'तिरुक्कुरल' का विशद विश्लेषण करती है। 'तमिल का शैव-साहित्य' और 'तमिल के गौरव ग्रंथ' प्रकाशाधीन हैं। अपनी साहित्य-साधना द्वारा आपने 'तमिल और हिन्दी के बीच एक सशक्त सेतु प्रस्तुत किया है जिसका आधार है - प्रेम, सद्भाव और अटूट पारस्परिक विश्वास और लक्ष्य है - राष्ट्र के समग्र साहित्य और चिंतन के ज्ञान द्वारा भावात्मक एकता की स्थापना।'